सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक-६ सितम्बर १९९३

संस्थापक:
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

सितम्बर
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख लेखक		पृष्ठ
★ ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते	....	1
★ योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल —योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	....	2
★ क्या हम आदमी है ?	....	6
(सम्पादकीय)	....	7
★ रमता जोगी बहता पानी —उपनिषद्-बोध	....	10
★ संस्कारों को हटाने में सद्गुरु कृपा की महत्ता —श्री मेहरबाबा	....	12
★ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्	....	15
★ आत्म-संयम —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	....	17
★ 'मोय ओर नांय तोय ठौर नांय' —श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'	....	21
★ हृदय रोग : कारण और निवारण —श्री डा॰ शरण प्रसाद	....	25
★ दैव और पुरुषार्थ —महाभारत दर्शन	....	29
★ लय और विक्षेप —योगिराज श्री भोले बाबा	....	33
★ जीवन का तारतम्य —स्वामी सत्यप्रकाशजी सरस्वती	....	35
★ हठयोग क्यों और कैसे ? —एक एकान्तवासी साधक	....	37
★ सेवा-धर्म —श्री नरेश कुमार शास्त्री	....	39

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २९
अङ्क ९

सितम्बर
१९९३

ध्यायं ध्यायं प्रविष्ट परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मार्गो मुक्त्योर्न च विरतौ, मुक्ति प्राप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्यर्थं बहुविध योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणार्थं भवतु महता सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

प्रणवः—(यहाँ) ओंकार ही; धनुः—धनुष है; आत्मा—आत्मा; हि—ही; शरः—बाण है (और); ब्रह्म—परब्रह्म परमेश्वर ही; तल्लक्ष्यम्—उसका लक्ष्य; उच्यते—कहा जाता है; अप्रमत्तेन—(वह) प्रमादरहित मनुष्य द्वारा ही; वेद्धव्यम्—बींधा जाने योग्य है (अतः); (उसे बेधकर) शरवत्—बाण की तरह; तन्मयः—(उस लक्ष्य में) तन्मय; भवेत्—हो जाना चाहिये।

अर्थात्—ऊपर बतलाये हुए रूपक में परमेश्वर का वाचक प्रणव (ओंकार) ही मानो धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं। तत्परता से इनकी उपासना करने वाले प्रमाद रहित साधक द्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है; इसलिए हे सौम्य! तुझे पूर्वोक्त रूप से उस लक्ष्य को बेधकर बाण की ही भाँति उसमें तन्मय हो जाना चाहिये।

—उपनिषद्

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल

अनन्त ज्योति श्री सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के अगणित पावन चरित्रों का वर्णन करना मेरे जैसे-साधारण प्राणी के लिए उतना ही दुर्लभ है जितना कि छोटी-सी डोंगी के अवलम्ब से दुस्तर सागर को पार करना। अथवा उन परम कृपा-निकेतन श्री प्रभुजी के चरण कमलों को हृदय में धारण करके उन्हीं की कृपाशक्ति एवं प्रेरणा से निजानुभूत यह छोटी सी घटना सर्वसाधारण के हितार्थ लिखने का आयोजन कर रहा हूँ। यद्यपि इस घोर कलिकाल में सहज श्रद्धा-विश्वास करने वाले प्राणी अत्यल्प हैं फिर भी श्रद्धालु जिज्ञासु समुदाय के लिए यह चरित्र बड़ा प्रेरक एवं श्रद्धा दृढ़ करने वाला है।

अपनी बाल्यावस्था, लगभग 14-15 वर्ष की आयु में, जब मैं अमृतसर में विद्याध्ययन किया करता था, मेरे गुरुभाई ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी, श्रद्धेय श्री मुलखराज जी के साथ एक बार अमृतसर में आये हुए थे। गोपालानन्द जी के दर्शन इससे पूर्व मैं ऋषिकेश में अपने दीक्षा-काल में कर चुका था। अतः इन महानुभावों के आगमन की सूचना पाकर मैं उनके दर्शनार्थ गया। उस समय वे दोनों महात्मा अमृतसर रेलवे स्टेशन के समीप ही नागरमल की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। बड़े गुरुभाई होने के नाते मैं उन दोनों को प्रणाम करके बैठ गया। ब्रह्मचारी जी उस समय ध्यानस्थ थे। थोड़ी देर बाद मेरे सामने ही इस प्रकार कहते हुए ध्यान से उठे—हे प्रभो, हे करुणासागर, हे दीनबन्धो आप आप ही हैं। उस प्रेम भाव के आवेग में गीता के यह वाक्य बार-बार उनके मुख से निकल रहे थे—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो,
लोके त्रयेऽप्यप्रतिम प्रभाव।

उन्हें प्रेम-विह्वल होकर, इस प्रकार बारम्बार स्तुति करते हुए देखकर मैंने पूछा—भाई जी, क्या कारण है? आज आप श्री प्रभुजी की बहुत स्तुति कर रहे हैं। श्री ब्रह्मचारीजी का मुखमण्डल उस समय आन्तरिक प्रेम भावों से अत्यन्त शोभायुक्त एवं विनम्र दिखाई दे रहा था। मेरी बात का कोई उत्तर न देकर वह पुनः ध्यानस्थ हो गए। किन्तु थोड़ी देर

योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल की यौगिक साधनाके विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने प्रेरक-संस्मरण भी।
—सम्पादक

बाद बीच-बीच में ज्यों ही उनके नेत्र खुलते, मैं बारम्बार यही प्रश्न करता रहा और मन में सोचता था—किसी प्रकार ब्रह्मचारी जी अपना आज का अनुभव तो मुझे बतला ही दें। मेरे बारम्बार पूछने पर और मेरी तीव्र जिज्ञासा एवं प्रगाढ़ लगन देखकर ब्रह्मचारी मुस्कराए, और हँसते हुए बोले—अरे भैया अभी तुम बच्चे हो। तुमने अभी तक ऐसी बातें सुनी भी नहीं होंगी। मैं तुम्हें बता दूं, परन्तु कह नहीं सकता कि तुम उस अद्भुत लीला को सत्य मान सकोगे या नहीं। उनकी बतलाने की प्रवृत्ति देखकर मेरे मन में जानने का हठ और अधिक हो गया। अन्ततः ब्रह्मचारी जी को मेरा अत्यधिक आग्रह देख कर सत्य वृत्तान्त कहना ही पड़ा! ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी कहने लगे—अरे भैया, उन परम कृपासागर की लीला क्या कहूं? आज तो योगयोगेश्वर अगाध दयानिधि श्री प्रभुजी ने किसी तपेदिक के मरणासन्न रोगी के अत्यन्त कष्टदायक रोग का संस्कार अपने शरीर पर आरोपित किया है। अब तीन दिन और तीन रात्रि तक निरन्तर इस रोग को स्वयं कृपानाथ जी भोगेंगे, और वह रोगी व्यक्ति बिल्कुल रोगमुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ हो जायगा।

यह वृत्तान्त सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि मैं दीक्षित हो चुका था। योग-योगेश्वर श्री प्रभुजी की अनुपम कृपाओं का अनुभव मेरे मन को अवश्य था और मेरा मन शक्तिपात दीक्षा के महत्व को भी भली भाँति समझ चुका था। किन्तु इस प्रकार के अद्भुत कार्य भी होने सम्भव हैं, इस विषय का मन में ज्ञान नहीं था। अतः सहसा मन विश्वास न कर सका और मैंने ब्रह्मचारी जी से निवेदन किया— भाई जी, यदि यह बात सत्य है तो मैं आश्रम में अपने आप जाकर देखना चाहता हूँ। ब्रह्मचारी जी ने कहा— प्रसन्नता से जाओ और उन कृपानाथ जी की इस अद्भुत कृपा को देखो।

ब्रह्मचारी जी के वचनों को सुनकर मेरे मन में श्री प्रभुजी के चरण कमलों में ऋषि-केश जाने की उमंग भर गई, परन्तु संस्कार वशात् मैं दो दिन नहीं जा सका। तीसरे दिन शाम की गाड़ी से अमृतसर से चलकर अगले दिन प्रातः ऋषिकेश पहुँचा। आश्रम में प्रवेश करके देखा। सामने आराम कुर्सी पर नेपाली काला धुस्सा (एक विशेष प्रकार का काला कम्बल) ओढ़े हुए श्री प्रभुजी बैठे थे। उनका मुख-मण्डल प्रसन्न होते हुए भी क्लान्ति के स्पष्ट चिह्नों से युक्त था। उनके चरण-कमलों के समीप ही एक व्यक्ति बैठा हुआ था, जो बिल्कुल क्षीणकाय एवं तेजहीन मालूम पड़ता था। बस, अस्थिपंजरावशेष ही दिखाई देता था।

मैंने श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में साष्टांग प्रणाम करके विनम्र शब्दों में पूछने का साहस किया—हे दीनबन्धो! आज आप उदास से कैसे हो रहे हैं? श्री प्रभुजी ने अत्यन्त गम्भीर वाणी में उत्तर दिया—क्यों, कैसे हो रहे हैं? मैं तो कृपानाथ जी की वाणी सुनकर चुप हो गया, किन्तु श्री प्रभुजी के पास बैठे उस क्षीणकाय व्यक्ति का कण्ठ भर आया और वह एक दम रोने लगा। मैंने आश्चर्य में आकर उससे पूछा—भैया,

तुम कौन हो ? और किस कारण रो रहे हो। इसी में श्री प्रभुजी शान्त भाव से अत्यन्त मधुर वाणी में उसे सान्त्वना दे रहे थे—भाई, रोता क्यों है ? इस प्रकार के कार्य यहाँ होते ही रहते हैं। मैंने उस व्यक्ति से आग्रह करके पूछा—भाई, सत्य बतलाओ। तुम्हारे इस प्रकार सहसा रो पड़ने का क्या कारण है ? उस व्यक्ति का नाम मानिकचन्द्र था, और वह अमृतसर में ही सोने चाँदी की दलाली करता था। मानिकचन्द्र दलाल ने बड़े विनम्र शब्दों में मुझसे कहा—भाई जी, श्री प्रभुजी का शरीर जो आपको दुर्बल-सा दिखाई दे रहा है, इसका कारण मैं ही पापात्मा हूँ। मैं इन दीनबन्धु जी की दया का क्या बदला दे सकूंगा ? और क्या ही इन परम कृपालु की सेवा कर सकता हूँ ? यह करुणानिधि अकारण कृपालु हैं। दीन बन्धु हैं, अनाथों के नाथ हैं, शरणागतों के रक्षक हैं। यह कहकर मानिकचन्द्र ने जो आप बीती कथा मुझे सुनाई थी, वह निम्न प्रकार से है।

उसने मुझसे इस प्रकार बतलाया—मैं तपेदिक का इलाज कराने सोलन गया हुआ था और धर्मपुर पहाड़ पर रहकर डाक्टरों से चिकित्सा करा रहा था। परन्तु मुझे वहाँ जरा भी लाभ नहीं हो सका। अन्ततः डाक्टरोंने मेरे रोग को असाध्य घोषित करके कह दिया—अब तुम किसी भी प्रकार बच नहीं सकते। बस अधिक से अधिक दस-पन्द्रह दिन के और मेहमान हो। धर्मपुर के डाक्टर की यह राय सुनकर मेरा मन जीवन से बिल्कुल निराश हो गया। मेरी स्त्री भी परम दुःखी होकर सबके अन्तिम आश्रय भगवान् को स्मरण करने लगी। अकस्मात् रात्रि में मेरी स्त्री ज्ञानदेवी को स्वप्न में भगवान् श्रीकृष्ण जी के दर्शनों की अनुभूति हुई। उसे अनुभव हुआ कि भगवान् कह रहे हैं—अपने पति को ऋषिकेश ले जाओ। वहाँ पर एक पूर्ण योगिराज हैं, उनके साथ इसका संस्कार भी है। उनकी कृपा से इसका जीवन बच जायेगा।

भगवान् की पवित्र प्रेरणा से मेरी स्त्री के मन में मुझे ऋषिकेश ले जाने का दृढ़ संकल्प बन गया। मेरे मन में भी विचार आया—ऋषिकेश ही चले चलें और कुछ न भी हुआ तो कम से कम श्री गंगा जी का पवित्र-तट तो अन्तिम समय मिल ही जायेगा। मेरी स्त्री बड़ी कठिनाई से मुझे ऋषिकेश तक ले आई, मेरी अवस्था मरणासन्न थी। बड़ी कठिनता से मेरी पत्नी ने मुझे तांगे में डाला और आश्रम के द्वार पर ही किसी प्रकार मुझे उतरवा कर डाल दिया। उस समय श्री प्रभुजी भ्रमणार्थ गए हुए थे। उनके अनुपम चमत्कारों के विषय में सुनकर वह स्वाति-नक्षत्र की बूंद के लिए चातक के समान श्री प्रभुजी की प्रतीक्षा करने लगी। भ्रमण से लौटने पर श्री प्रभुजी ने दरवाजे पर मुझे पड़ा देखकर पूछा—यह कौन है ? क्यों आया है ? कहाँ से आया है ? मेरी पत्नी ने मेरा सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक श्री चरणों में निवेदन किया। मेरे असाध्य रोग की बात सुनकर बाहरी मर्यादा का पालन करते हुए श्री प्रभुजी ने भी उत्तर दे दिया—ऐसे रोगी का हम क्या कर सकते हैं।

यह न कोई साधन कर सकता है और न यौगिक-क्रियाएँ करने की शक्ति ही शेष है। ऐसी दशा में औषधि-सेवन ही ठीक रहेगा। और कहीं ले जाकर इसका इलाज कराओ। अनाथनाथ जी के ऐसे रूक्ष एवं दयाशून्य वचन सुनकर मेरी पत्नी का हृदय अत्यन्त दुःखी हुआ और उसके नेत्रों में जल भर आया। उसने अत्यन्त कातर-वाणी में दीन-बन्धुओं से प्रार्थना की—हे प्रभो, अब संसार में आपके चरण-कमलों के अतिरिक्त हमारा कोई सहारा नहीं है। अब जो कुछ भी होगा, आपके चरण कमलों में ही होगा। हम दूसरी जगह कहीं नहीं जायेंगे। हमारी पहुँच तो यहीं तक थी, इससे आगे और कहीं जाने की हमारी शक्ति नहीं है। उसके दीन वचनों को सुनकर दीनबन्धुजी के मन में कृपा की लहर आ गई। प्रसन्नता से बोले—अच्छा, अच्छा, देखा जायेगा। फिर मेरी पत्नी से बोले—अपने पति से पूछो कि कौन सी वस्तु खाने की रुचि है? मेरे मन में उस समय खटाई पड़ी, तेल में तली, बैंगन की पकौड़ी खाने की इच्छा हुई। मेरी स्त्री ने मेरी यह इच्छा श्री प्रभुजी के चरण कमलों में निवेदन करदी। यद्यपि तेल की तली यह पकौड़ी उस समय मेरे लिए महान कुपथ्य थी, फिर भी श्री प्रभु जी ने पूर्ण प्रसन्नता से आज्ञा दी—यह जो कुछ भी खाना चाहता है, वही प्रेम से इन्हें खिलाओ। श्री प्रभुजी का आदेश पाकर चकित सी मेरी पत्नी तेल की तली वैसी ही पकौड़ी ले आई और मुझे खिलादीं। उन्हें खाते ही मेरा शरीर चेतना-शून्य हो गया। मेरी यह दशा देखकर मेरी पत्नी व्याकुल होकर रोने लगी। किन्तु उधर मेरे साथ इन कृपानिधि जी की कुछ और ही लीला हो रही थी। मुझे उसी बेहोशी में एक स्वप्न-सा दीखा—महान् तेज-मण्डल के साथ श्री प्रभुजी मेरे समक्ष खड़े होकर कह रहे थे—मानिकचन्द, तू अब इस कष्ट को नहीं भोग सकता। यदि भोगेगा तो तीन दिन में ही त्रिलोकी से बाहर हो जायगा। अतः ला अब तेरा यह शेष कष्ट हम लेकर भुगताये देते हैं। मुख खोल। जब मैंने मुख खोला तो एक अद्भुत आश्चर्य हुआ। मेरे मुख से एक भयंकर काला-काला सा गोला निकल कर श्री प्रभुजी के मुख में प्रविष्ट हो गया। मेरी स्त्री क्या समझती कि अनाथों के नाथ परम कृपासागर उस समय मेरे ऊपर कैसी कृपा कर रहे थे? पर दुःखकातर प्रभु ने मेरा रोग अपने शरीर पर ले लिया था—यह वह अज्ञानी कैसे जान सकती थी? अतः वह मेरे अनिष्ट की आशंका के कारण व्याकुलता में निरन्तर रोती रही।

उधर श्री प्रभुजी ने एक कमरे में एक निवाड़ का पलंग बिछवा लिया। अकस्मात् पूर्ण रूप से नीरोग एवं स्वस्थ उनके शरीर में मेरे रोग के पूरे-पूरे लक्षण प्रकट हो गये। मेरे समान ही बुखार, खाँसी एवं दस्त श्री प्रभुजी को ज्यों के त्यों लग गये। मेरी पत्नी का रोना सुनकर श्री दीनबन्धुजी ने उसके पास एक लड़का भेजा कि उससे जाकर कहना कि रोने घबराने की कोई बात नहीं है। उसका पति एक घण्टे में राजी होकर बोलेगा। लेकिन अज्ञान के कारण वह इसको केवल मात्र साधारण आश्वासन ही समझी और पूर्ववत् व्याकुल होती रही। थोड़ी देर बाद मुझे चेतना हुई और मैंने स्वयं कहा—अरी, तू रोती क्यों है! देख मेरे सारे रोगों को कृपानाथ श्री प्रभु जी अपने शरीर पर लेकर स्वयं भोग रहे हैं। तू ऊपर चबूतरे पर जाकर देख तो, मेरा सारा कष्ट दीनरक्षक वै

ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। वह स्वयं मेरा रोग भुगतान कर रहे हैं और मैं बिल्कुल राजी हो गया हूँ। मेरी स्त्री ने जब उन कृपानिधि की ऐसी दशा देखी तो बड़े आश्चर्य में पड़ गई और प्रभु जी की अनुपम कृपा का स्मरण कर गद्गद् हो गई।

मेरे कष्ट को श्री प्रभुजी ने अपने तन पर निरन्तर तीन दिन और तीन रात्रि भोग कर आज ही समाप्त किया है, और अब यह कृपानाथ जी घनघोर बादलों से मुक्त हुए चन्द्रमा के समान शान्त-भाव से हम लोगों के मध्य बैठे हैं। श्री प्रभुजी ने भगवान् सदाशिव की भाँति मेरे रोग रूपी गरल का जो पान किया है, उसी की यत्किंचित् क्लान्ति मुख-मण्डल पर शेष है।

यह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर मुझे ब्रह्मचारी जी के वचनों का स्मरण हुआ। अब विश्वास न कर सकने का तो प्रश्न ही नहीं था। फिर भी मन में बड़ा आश्चर्य लगा कि दूसरे के कष्ट को इस प्रकार भी भोगा जा सकता है, जैसा कि अखिल लोकपावन दीनबन्धु श्री ने मानिकचन्द दलाल के निमित्त भोगा था। मेरे सामने श्रीमान् मानिकचन्द जी मास के लगभग वहीं रहे। वे लोग काली कमली वालों के क्षेत्र में ठहरे हुए थे एवं प्रभुजी की आज्ञानुसार योग-साधन करने के लिए नित्य आश्रम आया करते थे। श्री प्रभुजी उनको जीवन तत्त्व साधन कराया करते थे। नेपाल हिमालय से लौटकर इस विशेष साधन को स्वयं श्री प्रभुजी ने अपने मन से प्रकट किया था। इसमें क्रमशः 9 क्रियाएँ हैं :—

(1) सर्वोत्थान (2) स्कन्ध-चालन (3) पद-चालन (4) नाभि-चालन (5) जानु-प्रसार (6) बाल-मचलन (7) बालक का ध्यान (8) नाड़ी-चालन (9) उत्क्षेपण

इन सब क्रियाओं के मध्य में इस जीवन-तत्त्व साधन से सम्बन्ध रखने वाला एक प्राणायाम भी कराया करते थे। यह जीवन तत्त्व साधन क्या है और इसकी शरीर को रखने में क्या उपयोगिता है ? यह एक विस्तृत विषय है और वर्ण्य विषय के बाहर है। केवल इतना कथन ही यहाँ पर्याप्त है कि इस जीवन तत्त्व-साधन की नौ क्रियाओं को नियमपूर्वक करने से साधन करने वाले व्यक्ति के शरीर में एक दिव्य बल का संचार होता है और उसको वृकाग्नि उत्पन्न हो जाया करती है। उस समय मैंने श्री प्रभुजी के चरण कमलों में इस साधन का आश्चर्य-जनक प्रभाव देखा है। उन कृपानाथ जी की कृपा से जीवन-तत्त्व साधन करने वाले व्यक्तियों का कायाकल्प हो जाता था। श्री प्रभुजी इस साधन को दिन में तीन बार कराया करते थे। इसको निर्विघ्न एक माह तक करने के बाद वृकाग्नि उद्दीप्त हो जाती थी और साधन करने वाले नित्य पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस सेर तक कच्ची सब्जी, भिगोई हुई दाल या चने, फल, दूध, इत्यादि खाकर पचा लिया करते थे। इस साधन को श्री प्रभुजी दो घण्टा सुबह, दो घण्टा दोपहर और दो घण्टा संध्या समय कराते थे।

श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में अनेकों व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ होने के लिए आये और शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति से अनन्तर वे लोग योग-मार्ग के सच्चे और अभ्यासी साधक बन कर गए

(शेष अगले अङ्क में) □

सम्पादकीय :-

क्या हम आदमी हैं ?

प्रायः विशिष्ट व्यक्तियों का परामर्श रहा है कि दूसरों से पूछने के बजाय मनुष्य को कभी स्वयम् अपने से भी यह पूछ लेना उसके अपने ही हित में रह सकता है कि वह बीते हुए कल में आत्मचिन्तन के जिस धरातल पर खड़ा था आज वह उस धरातल-बिन्दु से क्या और कितना आगे बढ़ा है या वह यथास्थिति में जहाँ खड़ा था वहीं आज भी मौजूद है ? इतना ही नहीं बल्कि उसे यह भी देखने और समझ लेने की जरूरत है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि गत अतीत में वह जहाँ जिस बिन्दु पर स्थित था उससे अपनी प्रतिगामी दिशा में कहीं सैकड़ों कदम हटकर पीछे तो नहीं पहुँच गया है ? इस कसौटी पर अपने को निरखने-परखने का सही उत्तर या सुलभ पन्थ इसके अतिरिक्त और दूसरा नहीं हो सकता कि हम अपनी गति और प्रगति के बारे में दूसरों से पूछने और जानने की अपेक्षा स्वयं अपने से ही जानने और पूछने की कोशिश करें। इसी प्रक्रिया को दार्शनिक और आध्यात्मिक भाषा में हम कहते हैं आत्मनिरीक्षण की क्रिया। योग-दर्शन में इसी को 'स्वाध्याय' कहकर परिभाषित किया गया है। आत्म-कल्याण के लिए और जीवन को अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति की दिशा में ले चलने हेतु स्व-अध्ययन की यह प्रवृत्ति या क्रिया अपना लेना एक अनिवार्य साधन बताया गया है। लोक-नीति, धर्मनीति और राजनीति के आचार्य चाणक्य ने, एक ऐसा ही अति उपयोगी और श्रेष्ठ सूत्र हमें दिया है जो उनके ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है :

निशान्ते कार्यं चिन्तयेत।

—चाणक्य सूत्राणि 490

अर्थात्

प्रत्येक मनुष्य जो जीवन को यशस्वी और सफल बनाने की इच्छा रखता है, रात्रि के चौथे पहर में जिसे ऊषा काल या ब्रह्म मुहूर्त भी कहा जाता है अपनी शय्या त्याग देना चाहिए, तथा नित्य कर्मों से निवृत्त होकर पिछले बीते हुए दिन के कार्यों पर दृष्टिपात करते हुए आने वाले दिन का कार्यक्रम निर्धारित कर लेना चाहिए, ताकि आज के सभी कार्य सुव्यवस्था के साथ सम्पन्न हो सकें। बीते हुए कल के कार्यों पर दृष्टिपात करते समय जो भूल या दोष दृष्टिगोचर हों उन्हें फिर न दुहराने में भी जागरूक रहना चाहिए। कार्यक्रम के निर्धारण में अपने दायित्वों के निर्वहन में दूसरों के हितों में बाधा न पहुँचे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। लोक-कल्याण और लोकहित में आपके प्रयास अन्यों के प्रयास में

बाधक न बनें, कार्यक्रम निर्धारण में, इसका भी विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस प्रक्रिया को ही योगदर्शन में 'स्वाध्याय' कहा गया है और इस प्रकार बनाये गए कार्य की सम्पादन प्रक्रिया को ही श्रीमद्भगवद्गीता में 'स्वधर्म' और 'स्वकर्म' कहा गया है। इस प्रक्रिया को अनुष्ठान में यानी अपने आचरण में ले आने वाले सहजभाव से सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। यथा :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । —गीता 18/45

यह कसौटी ही 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' जैसे 'बोध-वाक्य' का मूर्त दर्शन हमारी काया में दूसरों को करा सकती है, और यही हो सकती है हमारी आदमियत की पहचान। यदि हमारी काया में आदमियत के गुण धर्म नहीं हैं, हमारी आदमियत के गुण धर्मों से दूसरे लाभान्वित नहीं हो पाते हैं बल्कि उससे पीड़ा पाते हैं तो आदमी की आकृति पा जाने मात्र से हम आदमी नहीं कहे जा सकते।

भगवती श्रुति का भी यही स्पष्ट आदेश है कि आकृति या मानव-योनि पा लेने मात्र से आदमी आदमी नहीं होता, आदमी या मनुष्य तो संस्कारों द्वारा परिमार्जित होकर गुरुवर का बोध पाकर जब उसमें मनुष्यता, मानवता या आदमियत के गुण धर्म प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब ही बनता है वह सही अर्थों में आदमी ! वेद वाक्य 'मनुर्भव' भी हमें इसी दिशा में प्रयासरत रहने का संकेत देता है। यदि मानवता के गुण धर्म हमारे आचरण में समाविष्ट नहीं हो पाते हैं तो मात्र काया का पञ्जर लेकर हम कैसे कह सकते हैं मानव अपने को। जीवन में जब तक जीवन मूल्यों का समावेश नहीं हो पाता आदमी में आदमियत नहीं, आत लोक कल्याण और दुखियों का दुखदर्द पहचानने और उसे दूर करने की भावना न हो तब तक हम कैसे कह सकेंगे आदमी है यह। आगरा के मशहूर उर्दू शायर ने इसी कसौटी पर जब बहुत से आदमियों को परखा तो उसे यह कहने को ही विवश होना पड़ा :

मीर साहब गर फरिश्ता हो तो हो,
आदमी होना मगर दुश्वार है ?

इन्जीनियर, वकील, बैरिस्टर ज्योतिषी, पण्डित और राजनेता आदि आप कोई भी हो सकते हैं लेकिन आदमी नहीं हो सकते, जब तक कि आपका दिलो दिमाग आदमियत के स्वाभाविक गुणों से भरा-पूरा न हो। योगिराज भर्तृहरि ने लोक और परलोक के सारे सुख और वैभव छोड़कर मनुर्भव जैसे वेदादर्श को साकार करने के लिए दूसरों का दुःख-दर्द समझ कर उसे दूर कर देने का वरदान पाने के लिए ही तो प्रभु से अपनी यही आकांक्षा प्रकट की थी :-

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ॥

अर्थात् मुझे न स्वर्ग चाहिए, न पुनर्जन्म और न राजवैभव चाहिए मैं केवल दुखी और पीड़ित जनों का दर्द दूर करने में लगा रहूँ यही मेरी कामना है।

और यही मानवता और इन्सानियत का मुख्य लक्षण होता है तथा यही होता है मनुष्य का अपना जीवन-धर्म ! आग में यदि ज्वलनशीलता नहीं है, ऊर्जा और प्रकाश नहीं है तो हम सब उसे राख का ढेर कह सकते हैं आग के नाम से नहीं पुकार सकते। इसी प्रकार बिना आदमियत के गुण धर्म के हम आदमी को आदमी नहीं कह सकते, इन्सानियत के बिना इन्सान नहीं कह सकते और मानवता के अभाव में मानव नहीं कह सकते। तात्पर्य सबका यही है कि आदमी वही कहा जा सकता है जो दूसरों के दर्द दिल को केवल पहचानता ही न हो बल्कि पहचानकर उसे पी लेने की भी लालसा रखता हो। कितना सार्थक है इस दिशा में उर्दू शायर का यह कथन :—

दर्द दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को।
वरना इबादत के लिए कुछ कम न थे करोबियां ॥

आदमी में यदि आदमियत समायी हुई नहीं रहती है तो निश्चित रूप से वह आदमी नहीं है।

यह आदमी है या कुछ और यह जानने और समझने की कोशिश हर मुल्क में विचारशील मनुष्यों द्वारा अपने-अपने ढंग से की जाती रही है। कहते हैं, अमरीका जैसे सुसम्पन्न देश के घनी आबादी वाले एक नगर के एक ऐसे चौराहे पर जहाँ होकर बड़ी संख्या में हर श्रेणी के लोग आते-जाते रहते थे, दिन के उजाले में एक व्यक्ति लालटेन जलाकर बैठ गया। कुछ लोग उसे देखते और बिना उससे कुछ कहे अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते, यह विचार कर कि यह लालटेन वाला आदमी कुछ विकृत मस्तिष्क वाला लगता है, तभी तो दिन के तीव्र उजाले में भी लालटेन जलाकर बैठा है।

देखने वालों को अधिक आश्चर्य तब होता जब वे यह देखते कि लालटेन लेकर अपने सामने जमा हो जाने वाले आदमियों के पास वह लालटेन को ले जाकर उनके चेहरों को देखता और कुछ मिनट देखकर फिर अपने ठिकाने पर आकर बैठ जाता और मन ही मन नकारात्मक स्वर में कुछ गुनगुनाने लगता, पर इसकी इस प्रक्रिया को भी बहुत से लोग उसका पागलपन समझकर उससे कुछ पूछ लेना उचित न समझ कर आगे अपने गन्तव्य पर चल पड़ना ही उचित समझ लेते थे। किन्तु इनमें दो-चार ऐसे भी निकले जिन्होंने उससे यह पूछ लेना ही उचित समझा कि भाई साहब, बताइए तो आप यह क्या तमाशा कर रहे हैं ? दिन में क्यों लालटेन जलाकर यहाँ बैठे हैं और क्यों किस मकसद से कुछ लोगों के चेहरे लालटेन पास ले जाकर देखने का प्रयास कर रहे हैं ? वह मुस्कराया और बोला भाई मैं इन चौराहे पर बैठकर आने-जाने वालों की भीड़ में से अनेकों को इसलिए निरखा-परखा करता हूँ कि ये सभी आने-जाने वाले शक्ल-सूरत से तो आदमी ही हैं किन्तु इनकी पेशानी पर इनके दिल में भरी हुई आदमियत की कुछ झलक भी है या नहीं ? अगर नहीं है, तो फिर इन्हें सच्चे मैं आदमी कह ही कैसे सकता हूँ ? ऐसी दशा में तो अपने आध्यात्मिक गुरु का यह कथन ही मुझे सही मालूम पड़ा है कि :

यों तो दुनिया है कहाँ इन्सानों से खाली,
मगर दुनिया में इन्सां कमे-अक्ल हैं !!

यह कैसे हो आदमी। इसका एकमात्र उपाय है योगी जीवन का अनुष्ठान।

—सम्पादक

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
'चलने से धो रल जाता है, कीचड़ बन जाता बहु पानी' ॥

कबिरा नौबति आपनी—दिन दस लेउ बजाय

घटना है सन्त कबीर के युग की। एक दिन कबीरजी चले जा रहे थे अपनी शिष्य मण्डली के साथ किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को। रास्ता लगभग 5 मील लम्बा था, जिसे उन्हें पद-यात्रा के माध्यम से ही पूरा करना था। जिस पथ से वे जा रहे थे उसमें गंगा किनारे एक ऐसे राजवंश का छोटा-सा दुर्ग भी पड़ता था जो किसी गुजरे हुए जमाने में अपने स्वामी के पुरुषार्थ और गौरवगाथाओं के लिए पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। सभी लोग इस राजवंश की जो कभी इसके निर्माता रहे थे और जो बाद में भी इसके बाद दीगरे राजगद्दी पर आरूढ़ होते रहे, अपने पूर्वजों की सत्कीर्ति का स्मरण करके अपने को गौरवान्वित अनुभव किया करते थे।

× × ×

इस दुर्ग की अब पहले जैसी अवस्था तो नहीं थी। न आज के स्वामियों की सम्पन्नता ही पहले जैसी थी। यह सब दुर्दिनों का शिकार होकर अपना पूर्व रूप और गौरव खो चुके थे। दुर्ग का अधिकांश भाग खण्डहर का रूप ले चुका था। केवल 'नौबत-खाना' मात्र ऐसा भाग था जहाँ आज के दुर्ग-स्वामी के कुछ वेतन भोगी लोग नित्य नियम से और निरन्तरता से सायं-प्रातः कुछ देर अपनी 'नौबत' यानी नगाड़ा और नफीरी बजवाकर राजवंश की परम्परा का निर्वाह किया करते थे। इस नौबत-समारोह में दुर्ग का वर्तमान स्वामी औरउसके दरबारी भी शामिल होने आ जाया करते थे।

× × ×

यह संयोग ही रहा था कि जब सन्त कबीर अपने शिष्यों के साथ दुर्ग के नीचे से गुजर रहे थे तब नौबत बजाने की रस्म अदायगी की जा रही थी। दुर्ग का आजका राजा भी अपने कुछ सेवकों के साथ इसमें शामिल होने आया हुआ था। यह सभी नौबत समागम का आनन्द ले रहे थे। सभी अपने अतीत के गीत गा-गाकर आनन्दित हो रहे थे। सन्त कबीर भी इस सत्संग में शामिल होकर उनके हावभाव का अवलोकन करने लगे।

नौबत बजाये जाने का रागरंग जब थमा तो लोगों ने कबीर जी से कुछ शब्द उपदेश के रूप में कहने का आग्रह किया। कबीर ने नौबत बजाने की क्रिया और उनके मस्ताने जैसे हाव-भावों और नाद-ध्वनि से दीवाने से अपने सामने बैठे लोगों को सम्बोधित करना आरम्भ किया :—

कबिरा नौबति आपनी, दिन दस लेउ बजाय।
यह पुर-पट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय॥

अपने इस उपदेश की व्याख्या करते हुए कबीर ने कहा :—

लोगो सुनो! तुम्हारी यह रागरंग के भावों को पैदा करने वाली नौबत ज्यादा दिन बजने और सुनाई देने वाली नहीं है। जीवन क्षण-भंगुर है, कागज की पुड़िया के समान जल्दी गल जाने वाला है, गल जाने पर न हम यहाँ होंगे और न तुम में से भी कोई होगा। यह नगर और गली-गलियारे भी नहीं होंगे। अतः जो करना हो तुरन्त कर डालो।

कालि करै सो आजु करि, आजु करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करोगे कब्ब ?

प्रमाद और गफलत में जीवन-बिताने वालों को सिवाय पछताने के और कुछ हाथ नहीं आता।

या दुनिया में आयके छांड़ि देय तू एंठ।
लेना है सो लेय ले, उठी जात है पैंठ॥ —योगी रमतासम

☐ हमें चाहिए कि भगवान को हम अपना हृदय सम्पूर्ण रूप से सौंप दें। हमारे हृदय में केवल उसी के लिए स्थान होना चाहिए। दूसरों के साथ वह वहाँ क्यों वास करेगा। जो स्थान भगवान का है, उसे हम साफ-सुथरा रखें। वह स्वच्छता चाहता है। जब हम अपने हृदय को भगवान का घर बना देंगे तो हम जब चाहेंगे तब उसका दर्शन कर पायेंगे। हृदय में दूसरी ऐसी किसी भी चीज को जगह न होनी चाहिए, जो भगवान के दर्शन में रुकावट डालती हो।

☐ भगवान को अपने साथ रखकर जीवन बिताने में जो सुख होता है उसकी तुलना भला किस चीज के साथ हो सकती है। किन्तु मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि ध्यान का लक्ष्य ही हो केवल प्रभु चिन्तन। सुख की आशा या प्रतीक्षा में ध्यान या भक्ति अनुचित है। दीक्षा-प्राप्त साधक या जन-साधारण के लिए यह शक्य है। प्रभु को सदा ध्यान में रखकर जीवन बिताना सबके ही लिए सरल है।

—सेन्ट लारेन्स

□ श्री मेहेरबाबा

संस्कारों को हटाने में सद्गुरु कृपा की महत्ता

सद्गुरु अथवा पूर्णगुरु के प्रति श्रद्धा विशेषतः महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसकी बदौलत ही सद्गुरु से संपर्क प्राप्त होता है। ऐसे संपर्क के द्वारा जिज्ञासु को सद्गुरु से जो अनुभव चिह्न या चित्त संस्कार उपलब्ध होते हैं उनमें पूर्वजन्मार्जित संस्कारों को अन्यथा करने की विशेष क्षमता होती है। ये अनुभव जिज्ञासु के जीवन की दिशा को एकदम बदल देते हैं। ऐसे अनुभव चिह्नों को ग्रहण करने वाला जीवनकी अपनी पुरानी आदतों तथा विचार-पद्धतियों को बिलकुल छोड़ देता है। सद्गुरु संपर्क से भ्रष्ट से भ्रष्ट जीवन की काया पलट तथा उन्नति हो जाती है। भले ही मनुष्य इहलौकिक तृष्णाओं और वासनाओं की तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सोच-विचार किये बिना दुर्व्यसन तथा दुराचार की जिन्दगी बिताकर अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहा हो। चाहे अधिकार और शक्ति की पिपासा का वह क्रीत दास बन चुका हो और धनार्जन तथा धनसंग्रह करके आमोद-प्रमोद करने के सिवा उसका अन्य कोई आदर्श न हो। किन्तु सांसारिक शृंखलाओं से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न में भी ख्याल न करने वाले ऐसे मनुष्य को भी यह मालूम होते देर न लगेगी कि सद्गुरु के संसर्ग से उसे जो संस्कार प्राप्त होते हैं उनमें उसकी पुरानी आदतों तथा विचार-विधियों पर सदा के लिए पर्दा डालने की शक्ति होती है और वे उसके लिए उच्चतर तथा स्वतन्त्र जीवन की नवीन खिड़कियाँ खोल देते हैं। सद्गुरु से प्राप्त होने वाले अनुभव-चिह्न बुद्धि-प्रधान तथा सुशिक्षित मनुष्य के लिए भी कम लाभदायक नहीं होते हैं। ऐसे (बुद्धिप्रधान तथा सुशिक्षित) मनुष्यों की दृष्टि भी संकुचित ही हुआ करती है। अधिक हुआ तो उसकी कल्पना साहित्य तथा कला के सौंदर्य का रसास्वादन कर सकती है और उसकी परोपकारिता पड़ोस अथवा देश की सीमा तक ही परिमित रहती है। सद्गुरु से अनुभव-चिन्हों की प्राप्ति होने पर ऐसा मनुष्य अधिक उत्कृष्ट जीवन का अनुभव कर सकता है।

सद्गुरु जिज्ञासु की चेतना को सामान्य बौद्धिक सतह से ऊपर उठाकर दैवज्ञान (inspiration) तथा अंतर्ज्ञान (intuition) की सतह में पहुँचा सकता है और फिर वहाँ से वह उसे अतीन्द्रिय ज्ञान (insight) तथा आत्म-ज्ञान (illumination) की सतह तक पहुँचा कर अन्ततोगत्वा वह उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करा सकता है। जिज्ञासु का यह उत्थान उसके पार्थिव क्षेत्र से सूक्ष्म क्षेत्र, सूक्ष्म क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र तथा मानसिक क्षेत्र से मुक्तावस्था में क्रमशः उन्नत होने से सम्बन्ध रखता है। सकल संस्कारोंन्प ..[illegible]

या अप्राकृतिक-विध्यात्मक या निषेधात्मक— का पूर्ण प्रक्षालन ही जिज्ञासु का अंतिम कदम है। लकड़ी पर लपेटे हुए आगे वाले साइंस के अनुसार संस्कारों के प्रक्षालन की प्रक्रिया धागे को कैंची से काटने के समान है। समस्त संस्कारों का उच्छेदन करना और इस प्रकार चेतना को सभी भ्रमों और बंधनों से मुक्त करना सद्गुरु की अनुकंपा के बिना कदापि संभव नहीं है।

किन्तु सद्गुरु के द्वारा ऐसी सक्रिय मध्यस्थता तभी संभव है जब जिज्ञासु तथा सद्गुरु के बीच अवरोध-रहित सम्बन्ध हो और ऐसा अवरोध-रहित सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब जिज्ञासु गुरु के हाथों में अपना पूर्ण आत्म-समर्पण करने में सफल होता है। आत्म समर्पण का अर्थ है गुरु की सभी आज्ञाओं का पालन करना। जब तुम्हारे सभी कार्य तथा इच्छाएँ गुरु के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं और जब वे तुम्हारे द्वारा उनकी आज्ञाओं का पालन करने का परिणाम मात्र हैं तब उनके लिए गुरु ही प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार होता है। इस भाँति जब आत्म-समर्पण पक्का होता है तो संस्कारों से तुम्हारे निस्तार पाने का उत्तरदायित्व गुरु पर आरोपित हो जाता है। और इस नवीन स्थिति में गुरु को तुम्हारे संस्कारों का उन्मूलन करते देर नहीं लगती।

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्म-समर्पण का अर्थ है आज्ञा-पालन। आज्ञा-पालन के दो प्रकार हैं: (1) बौद्धिक तथा (2) शाब्दिक। बौद्धिक आज्ञा पालन की अपेक्षा शाब्दिक आज्ञा पालन अधिक फलदायक है किन्तु बौद्धिक आज्ञा-पालन पहले आता है और वह शाब्दिक आज्ञा-पालन की प्रस्तावना है। जब गुरु की महानता एवं सिद्धि का तुम्हारी बुद्धि को विश्वास हो जाता है, तब तुम्हारे हृदय में उनके लिए श्रद्धा तथा आदर उत्पन्न हो जाता है किन्तु उनकी आज्ञाओं का शब्दशः-अक्षरशः पालन करने में तुम अपने को असमर्थ पाते हो। चूँकि तर्क तुम्हारे विश्वास का आधार होता है अतः गुरु तथा उनकी आज्ञाओं को समझने में तर्क का आश्रय न लेना तुम्हारे लिए कठिन होता है। तुम्हारी बुद्धि तथा गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा अनिवार्य रूप से बँधी रहती है अतः तर्क-सम्मत या बुद्धि-गम्य आज्ञाओं का ही पालन तुम कर सकते हो। गुरु शिष्य की इस मानसिक अवस्था को नहीं छेड़ता और वह उसकी रुचि तथा योग्यता के अनुकूल केवल बुद्धि-ग्राह्य आज्ञाएँ ही उसे देता है।

बौद्धिक आज्ञा पालन के द्वारा तुम अपने सभी संस्कारों को विनष्ट कर सकते हो किन्तु शर्त यह है कि अमुक आदेशों का ठीक ठीक आशय समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में तुम्हें सरल हृदय होने की जरूरत है। किन्तु शाब्दिक आज्ञा-पालन के द्वारा फल-प्राप्ति अधिक शीघ्र होती है। अपने मानव प्रेम की प्रेरणा से गुरु शिष्य में चट्टान की तरह अटल श्रद्धा तथा अगाध भक्ति उत्पन्न करता है। परिणामतः प्रेम के वशीभूत होकर शिष्य गुरु की आज्ञाओं का शब्दशः या अक्षरशः पालन करता है। गुरु के तेजो मण्डल की दिव्य दीप्ति तथा पवित्रता एवं करुणा की विमल कांति शिष्य में कभी विचलित न होने वाली श्रद्धा पैदा कर देती है। यही कारण है कि वह बिना तर्क वितर्क के गुरु की आज्ञाओं का पालन करने के लिए तैयार हो जाता है—चाहे वे आज्ञाएँ उसकी आलोचक बुद्धि को तुष्ट करें या न करें। ऐसे शाब्दिक आज्ञा-पालन को इस बात की

आवश्यकता नहीं रहती कि गुरु आज्ञाओं का यथार्थ अर्थ शिष्य के लिए बुद्धिगम्य होना ही चाहिए। यह सर्वोत्कृष्ट कोटि का आज्ञा-पालन है। ऐसे ही आज्ञा-पालन की तुम्हें आकांक्षा करनी चाहिए। ऐसे अवितर्क तथा प्रश्न-शून्य आज्ञा-पालन के द्वारा तुम्हारी वक्र इच्छाएँ तथा कुटिल संस्कार ग्रन्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। ऐसे संशय रहित आज्ञा-पालन से ही गुरु और शिष्य के बीच में गहरा सम्बन्ध स्थापित होता है जिसका परिणाम यह होता है कि शिष्य में आध्यात्मिक विवेक और बल की अगाध एवं अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है। इस अवस्था में शिष्य गुरु का आध्यात्मिक पुत्र बन जाता है। उचित समय में वह अपने समस्त सांस्कारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा वह स्वयं गुरु बन जाता है।

सद्गुरु या सिद्ध गुरु का पद अनुपम होता है तथा उसकी शक्ति अद्वितीय होती है। संसार में ऐसे अनेक आत्मा हैं जो आध्यात्मिकता में न्यूनाधिक बढ़े-चढ़े हैं किन्तु चेतना के छहों आभ्यान्तर क्षेत्रों का अतिक्रमण करके सत्, चित् तथा आनन्द के अनन्त उद्गम-स्थान से एकाकार हो चुकने वाले सद्गुरु बहुत थोड़े हैं। सद्गुरु न केवल चेतना की विभिन्न भूमिकाओं का अनुभव प्राप्त कर चुके होते हैं किन्तु अनन्त से युक्त हो जाने के सबब वह तो समस्त आत्माओं के अस्तित्व में ही व्याप्त हो जाते हैं। वह सार्वलौकिक क्रियाओं के केन्द्र में स्थित-विवर्तनकोण है। एक अर्थ में तुम्हारे समग्र कार्य और विचार, तुम्हारे सुख और दुःख, दुर्बलता, तुम्हारे क्रोध और क्षोभ तुम्हारी चंचलता और स्थिरता तुम्हारे संग्रह तथा विसर्जन एवं तुम्हारे प्रेम और लालसा इत्यादि का वह आदि हेतु है। वह केवल सर्वव्यापक ही नहीं है किन्तु वह कार्य-कारण के पार्थिव नियम का तथा वैयक्तिक आत्माओं के संस्कारों की जटिल क्रिया पद्धति का पूर्ण-वेत्ता है। व्यक्तियों के सुख या दुःख, सत्कर्म या दुष्कर्म के कारण उसे विदित रहते हैं। पार्थिव परिवर्तन, उथल-पुथल, युद्ध तथा क्रान्ति के कारण भी उनसे छिपे नहीं रहते। उनकी सर्वगत चेतना के उज्ज्वल एवं अनन्त प्रकाश के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वस्तु एक खुली पुस्तक है। अनन्त से एकता प्राप्त कर चुकने के समय वे असीम शक्ति-सम्पन्न हैं और निमेष मात्र में ही वह आत्मा के संस्कारों को छिन्नमूल कर सकते हैं और उसे समस्त बन्धनों और पाशों से मुक्त कर सकते हैं।

रहिमन बात अगम्य की, कहन-सुनन की नाँहि।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाँहि॥

× × ×

ऊँची जाति पपीहरा, पियं न नीचो नीर।
कै जाँचै घनश्याम सौं, कै दुख सहै शरीर॥

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

□ आचार्य शंकर द्वारा
(कुलार्णव तंत्र से)

तोय फेन समे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्येऽप्रिय संसारे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः ॥

जल के झाग (बुलबुलों) के तुल्य इस शरीर में प्राण एक पक्षी की भाँति स्थित है जो किसी भी समय अवसर पाते ही उड़ सकता है। इस अनित्य (अस्थायी) और अप्रिय संसार में मनुष्य निर्भय कैसे रह सकता है ?

× × × ×

अहिते हितबुद्धिः स्यादध्रुवे ध्रुवचिन्तकः ।
अनर्थे चार्थ विज्ञानी स्व मृत्युं न हि वेत्ति किम ॥

बुरी वस्तु को भी अच्छी समझने वाला, अनिश्चित को निश्चित समझने वाला और अनर्थ को अर्थ समझने वाला व्यक्ति भी क्या अपनी मृत्यु को नहीं जानता ?

× × × ×

पश्यन्नपि न पश्येत् स श्रृण्वन्नपि न बुध्यति ।
पठन्नपि न जानाति तव माया विमोहितः ॥

शिवजी ने पार्वती से कहा—हे देवि ! इस संसार में जन्म लेकर मनुष्य तेरी माया के जाल में पड़कर देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं समझता और पढ़ता हुआ भी नहीं जानता अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता।

× × × ×

सन्निमज्जज्जगदिदं गंभीरे काल सागरे ।
मृत्यु रोग महा ग्राहे न किंचिदपि बुध्यति ॥

मृत्यु और भयंकर रोग रूपी मगरमच्छों से युक्त गंभीर काल रूपी सागर में इस सारे संसार को डूबते देखकर भी यह मानव कुछ नहीं समझ पाता।

× × × ×

प्रतिक्षणमयं कायो जीर्यमाणो निरीक्ष्यते ।
आमकुंभ इवाम्भःस्थो विशीर्ण इव भाव्यते ॥

यह शरीर प्रतिक्षण (हर समय लगातार) नष्ट होता जाता है और जल में रखे हुए मिट्टी के कच्चे घड़े के समान (धीरे-धीरे) नष्ट होता जाता है।

युज्यते वेष्टने वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रन्थनं च तरंगाणामास्था नायुषि युज्यते ॥

वायु का बाँधा जाना, आकाश के टुकड़े किया जाना और तरंगों (लहरों) का हार पिरोया जाना संभव हो सकता है,—परन्तु आयु के चिर-स्थायित्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता ।

× × × ×

पृथ्वी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ।
शुष्यते सागर जल शरीरे देवि ! का कथा ॥

हे देवि ! जो इस पृथ्वी को जला सकता है तथा मेरु पर्वत को टुकड़े कर सकता है और (अथाह) समुद्र जल को सुखा (कर उड़ा) सकता है (उस भगवान् के आगे) इस शरीर की चर्चा ही क्या है ?

× × × ×

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे ।
जल्पन्तमिति मर्त्यं हि हन्ति कालवृकोदरः ॥

'यह मेरी सन्तान है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा धन है और ये मेरे भाई-बन्धु (रिश्तेदार) हैं'—पुकारते हुए इस मनुष्य को काल रूपी भेड़िया समाप्त कर देता है ।

× × × ×

इदं कृतमिदं कार्यं मिदमन्यत्त कृताकृतम् ।
एवमीहा समायुक्तं मृत्यु रति जनं प्रिये ! ॥

हे देवि !—'मैंने यह किया है और अभी यह करना बाकी है'—इस प्रकार के संकल्प-विकल्प में उलझे हुए मनुष्य को मृत्यु हड़प कर जाती है ।

× × × ×

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाप्यथवाकृतम ॥

जो कल करना है, उसे आज कर लो, जो मध्याह्न में करना है, उसे पूर्वाह्न (प्रातः काल) में ही कर लेना चाहिए, क्योंकि मृत्यु किसी के किए और न किए (अर्थात् करने योग्य शेष रहे कार्य) की प्रतीक्षा नहीं करती । अर्थात् जो कुछ भी आत्म-कल्याण के लिए करना है, उसे जितना शीघ्र सम्भव हो, कर लेना चाहिए । □

□ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

आत्म-संयम

आत्म को वश में करने का नाम है 'आत्म-संयम।' इसके अर्थ हैं अपने आपको वश में करना अर्थात् अपने कर्म, वचन और मन पर अधिकार करना, शरीर, जिह्वा और मन को वश में रखना अर्थात् शरीर से कोई अशुभ कर्म न होने पावे, जिह्वा से कोई अप-शब्द न निकले और मन में कभी अशुभ विचार न उठने पावे। यदि मनुष्य अपने शरीर इन्द्रियों को वश में करके उनका उचित ढंग से प्रयोग करता है, तो वह मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। इसके विपरीत जब वह मनुष्य अपने कर्म वचन और मन पर अधिकार नहीं रखता, उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रखता, तो मनुष्यता के उच्च पद से गिर कर अन्य योनियों में गिने जाने के योग्य हो जाता है।

इसलिए मनुष्य के सच्चे हितैषी और हितकारी सन्त सत्पुरुष सदैव ऐसा ही शुभ उपदेश देते हैं कि—

जिह्वा को अशुभ बात कहने से, मन को अशुभ बात सोचने से और हाथों को अशुभ करने से रोके रखो, क्योंकि जिसके लिए तुम अशुभ सोच रहे हो शायद उसके लिए विधाता को ऐसा अभीष्ट न हुआ तो तुम्हारे सोचने से उसका कुछ तो होगा नहीं, उस अशुभ कर्म का प्रभाव स्वयं तुम्हारे ऊपर आयेगा। प्रत्येक व्यक्ति के कर्मानुसार शुभ अथवा अशुभ होना तो विधाता के अधीन है। किसी के लिए अशुभ सोचने से मनुष्य उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता उल्टा स्वयं को बुरा अवश्य बना लेता है। प्राकृतिक नियमानुसार विचारों का प्रभाव स्वयं उसी पर वार करता है जैसाकि आम कहावत है।

जैसा सोचोगे, वैसा ही बन जाओगे।
जैसा करोगे, वैसा ही भरोगे॥

यह कभी न सोचो कि "विचार केवल विचार ही है, यह कोई वस्तु नहीं है।" वास्तव में सत्य तो यह है कि यह संसार विचारों का संसार है अन्य शब्दों में विचारों के संसार का नाम ही संसार अथवा विश्व है। इस विचार में अत्यधिक शक्ति विद्यमान है। यह विचार ही बार-बार उभर कर जिह्वा को हिलाता है, मस्तिष्क को गति प्रदान करता है और शरीर को कर्म करने पर विवश करता है।

भूल कर भी यह न समझो कि वचन में कोई शक्ति नहीं रखता। विचार ही का अन्य रूप वचन है और वह जगत्-क्रम को उलट-पलट करने की शक्ति रखता है। वचन से ही तो कर्म का आरम्भ होता है। और यह भी कभी न सोचो कि कर्म नितान्त साधारण बात है अपितु इस प्रकार समझो कि यह जगत कर्ममय है। जो कुछ हुआ, हो रहा है और होगा, वह सब कर्म ही के प्रभाव से

हुआ है, हो सकता है । हो रहा है और होगा । कर्म में असीम शक्ति है । यह विचार की तीसरी शक्ति है और इसी कर्म के पीछे विचार और वचन रहकर इसे गतिमान रखते हैं ।

इसलिये कहा गया है कि मन-वचन-कर्म अर्थात् मन-जिह्वा और शरीर इन तीनों को वश में रखो तब परमार्थपथ की ओर पग बढ़ाओ । यदि तुम में आत्म-संयम नहीं है तो आत्मिक धन तुम्हारे हाथ नहीं आएगा । तुम शरीर और इन्द्रियों में फँसकर निर्बल हो जाओगे और अत्यन्त अपमानित होगे । पहले अपना अनिष्ट करोगे, फिर और किसी का अनिष्ट कर सकोगे ।

जो दूसरों के लिए अशुभ सोचता है उसका मन विषपूर्ण विचारों का स्रोत है । यदि वह ऐसा न होता तो उसमें अपने और पराये को हानि पहुँचाने वाले विचार और विष की धार कैसे निकलती ? मनुष्य बुरा होगा तभी तो बुराई सोचेगा । जो दूसरों की बुराई में जिह्वा खोलता है तो मानो उसके मन में बुराई का स्थायी निवास हो गया है और उसके निकलने का मार्ग उसकी जिह्वा बन गई है ।

यदि वह मन और जिह्वा का बुरा न होता तो किसी के लिए अशुभ वचन को क्यों निकालता ? जो दूसरों के बुराईयाँ करता है, वह मन, मस्तिष्क और शरीर का मलीन है, तभी तो वह औरों की हानि चाहता है । जो जैसा है और जैसा जिसने अपने आपको बना लिया है वह वैसा ही सोचेगा और करेगा भी । यह मान्य और सच्ची बात है जिसके सिद्ध करने के लिये किसी दलील की कदापि आवश्यकता नहीं ।

इसलिये यदि बुराई से बचना चाहते हो तो पहले शरीर पर, फिर जिह्वा पर और मन पर दृष्टि रखो ताकि शरीर से कोई अशुभ कर्म न होने पाये, जिह्वा से कोई अपशब्द न निकले और मन को कभी किसी के सम्बन्ध में अशुभ सोचने का अवसर न मिले ।

बुराई से बचने का उत्तम उपाय यह है कि वृत्ति को नेकी और भलाई की ओर कर दो । शरीर को बुरी संगति से रोककर सत्य पुरुषों की संगति की ओर मोड़ दो । वह नेक हो जायगा । बुरे कर्मों से बच जायेगा । जिह्वा को अशुभ वचन कहने से रोक दो । उसे मालिक का नाम जपने और सद्शास्त्रों का अध्ययन करने में लगा दो । ऐसा करने से वह शुभ वचन बोलने लगेगी ।

मन को बुराई सोचने से रोक दो । किन्तु यह भी ध्यान रहे कि मन बेकार रहना नहीं जानता । इसे हर पल कुछ न कुछ सोचने विचारने और समझने का मसाला चाहिये । जब तुम्हारा शरीर और जिह्वा सत्पुरुषों की शुभ संगति के प्रभाव से शुभ मार्ग की ओर लग जायेंगे अर्थात् शरीर शुभ कर्म करने लगेगा और जिह्वा शुभ वचन बोलने लगेगी तो मन को भी शुभ भोजन मिलता रहेगा । संगति अपना प्रभाव डाले बिना कैसे रह सकती है ?

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

गीता 6/5-6

योगीराज भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी कहते हैं कि हे अर्जुन ! जब यह मन अपना चंचलपन त्याग करके एकाग्र हो जाये तो यही मन ही मनुष्य का मित्र बन जाता है । इसके विपरीत जब यह स्वेच्छाचारी और

चंचल बना रहता है तो यही मन मनुष्य का शत्रु बन जाता।

मन उसी का मित्र बन जाता है जिसने गुरु के बताये हुए अभ्यास द्वारा इसे वश में कर लिया। फिर यही मन आत्मिक धन प्राप्त करने में सहायता करता है। इसके विपरीत जब यह वश में नहीं होता तो मनुष्य के साथ शत्रुता करता है। यह इसका स्वभाव है।

मानवमन स्वयं सब शक्तियों का भण्डार है। यही सौभाग्य से समय के सद्गुरुओं की संगति का लाभ प्राप्त करले, तो उनकी संगति के प्रताप से नेकी की ओर लगकर नेक शक्ति का भण्डार बन जाता है। जब मनुष्य को सत्पुरुषों की संगति प्राप्त हो जाती है तो मन को वश में करने और उसे नेकी के भण्डार की ओर लगाने का भेद और ढंग प्राप्त हो जाता है। फिर जितना-जितना सद्गुरु के बताये हुए अभ्यास द्वारा मनुष्य मन को वश में करता जाता है उतना ही वह पवित्र मन और पवित्र विचारों वाला बनता जाता है।

आत्मिक शक्तिमन, जिह्वा और शरीर को निरंकुश छोड़ने में नहीं, अपितु उनको वश करने में है। दूसरे शब्दों में आत्म-संयम में ही सब शक्ति है और आत्म-संयम मनुष्य ही पवित्र मन, पवित्र जिह्वा और पवित्र शरीर वाला कहलाने का अधिकारी है और वही सच्चा सुख है।

तीर तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ति करै, सूर कहावै सोय॥
(कबीर जी)

परम सन्त श्री कबीर साहब का कितना प्रभावकर वचन है कि तीरकमान और तलवार का धनी वह है जो बाहरी शत्रुओं के साथ शस्त्रों के द्वारा अत्यन्त वीरता से लड़ता है। सांसारिक दृष्टि से चाहे उसकी वीरों में गणना हो, परन्तु भक्ति मार्ग में उसे सूरमा नहीं कहते। भक्ति मार्ग में सूरमा की उपाधि उसे दी जाती है जो जागतिक विचारों को त्याग कर भक्ति की कमाई करता है, क्योंकि इस मार्ग में मन और माया से पूरा युद्ध करना पड़ता है। जो जिज्ञासु परमार्थ-पथ पर चलता हुआ गुरु की कृपा से मन-माया पर विजय प्राप्त करके भक्ति की कमाई कर रहा है, वही सच्चा सूरमा कहलाता है। वही अपने जीवन को सफल बनाता और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

मन में असीम शक्ति है। एक बार गुरु कृपा से मन को वश में कर लिया जाये तो फिर यह मन शेष सबकुछ स्वयं ही वश में कर लेता है और यदि यह डावांडोल होकर बुराई की ओर झुक गया तो समझ लो मनुष्य दोनों लोक से गया।

मन के मलीन और चंचल होने में दुर्बलता और मृत्यु है। इसके एकाग्र और शान्त होने में शक्ति एवं जीवन है। मन को वश में रखने से मनुष्य भक्ति-परमार्थ की ओर अग्रसर होता है और मन को निरंकुश छोड़ देने से मनुष्य शरीर और इन्द्रियों में फँसकर पशु बन जाता है।

श्री गुरुदेव का कथन है कि मनुष्य का शरीर एक दुर्ग की भाँति है। इसके भीतर आत्मा का विश्राम गृह है। यद्यपि इस दुर्ग रूपी महल के और भी कई द्वार हैं, परन्तु मुख एक विशेष द्वार है। जिह्वा इस द्वार का चौकीदार और द्वारपाल है। इसके द्वारा अन्दर के भेद बाहर जाते हैं और बाहरी विचारों का आक्रमण भी इसी जिह्वा के द्वारा ही आत्मा पर हुआ करता है। चूँकि

इसको बहुत जिम्मेवारी सौंपी गई है, इसलिए इसकी चौकीदारी अत्यन्त आवश्यक समझी गई है और इसे एक छोटे से दुर्ग में अर्थात् बत्तीस दाँतों की चार दीवारी में बन्द कर दिया गया है। ताकि अत्यन्त आवश्यक समय में ही इसे काम में लाया जा सके, बिना आवश्यकता के हर समय व्यर्थ वार्तालाप यह जिह्वा न करती रहे।

जब तक मनुष्य मुख से कोई बात नहीं कहता। उसके गुण-अवगुण दोनों ही गुप्त रहते हैं। उसकी दूसरे मनुष्य पर धाक जमी रहती है कि ना जाने इसके मन में कौनसी बात है? प्राकृतिक नियमों को देखते हुए मनुष्य वास्तव में यह नहीं कह सकता कि प्रत्येक वनखण्ड पशुओं से खाली है। सम्भव है कि कोई शेर-चीता आदि सोया पड़ा हो।

ऊपर विषय में जिह्वा को बन्द रखने का वर्णन चल रहा है। यदि इस विशेष द्वार पर ताला लगा रहेगा तो मनुष्य बहुत-सी बाहरी आदतों से सुरक्षित रहेगा।

सत्पुरुष सदैव जिह्वा, कर्ण (कान) और नेत्र बन्द रखने का आदेश देते हैं। ये द्वार विशेष आवश्यकता के समय ही खोले जायें बिना आवश्यकता के हर समय इनका खुला रहना भय से खाली नहीं। शरीर और मन को वश में करने में इनका विशेष हाथ है। ये द्वार बन्द रहेंगे। तो मन और शरीर भी काफी सीमा तक वश में रहेगा।

श्री गुरुदेव का भी कहना है ऐ मनुष्य! आँख को बन्द रख (यह सहज समाधि की ओर संकेत है)। कानों को बन्द रख (यह अनहद शब्द के श्रवण की ओर संकेत है) और मुख को बन्द रख (यह अजपा जाप की ओर संकेत है)।

श्री गुरुदेव के बताये हुये अभ्यास के द्वारा मनुष्य यदि अपने आँख, कान और मुख को बन्द रखे तो अपने घट में ईश्वर के ज्योतिर्मय स्वरूप का दर्शन अवश्य कर सकेगा।

इसलिए मन, वचन और कर्म (मन, जिह्वा और शरीर) को वश में रखने का पूरा-पूरा यत्न करो। मन से निकला हुआ विचार जल के स्रोत की वह धार है जो कभी बाहर निकल कर वापिस अपने केन्द्र की ओर रुख नहीं करती। जिह्वा से निकली हुई बात वह बाण है जो कभी कमान के चिल्ले की ओर नहीं लौटती। हाथ और शरीर से किये हुए अशुभ कर्म उस बिजली के समान है जो आकाश से गिरकर फिर कभी ऊपर नहीं उठती। इसलिए भली प्रकार सोच-समझकर और किसी परिपूर्ण सद्गुरु की शरण संगत में जाकर उनके नाम दर्शन और सहायता के प्रभाव से अपने आपको वश में करने का दृढ़ यत्न करें। शरीर, मन और जिह्वा आदि पर पूरा संयम रखोगे तो सहस्रों कष्टों से सुरक्षित रहोगे और आत्म ज्योति देख सकोगे। इसी का नाम आत्म-संयम है।

☐

☐ जब तक तुम सांसारिक सम्बन्धियों के भरोसे में तथा सुखद पदार्थों में आसक्त हो, तब तक अपने को पतित ही समझो। संसार की आसक्ति सुरापान से भी अधिक उन्मत्त बनाने वाली है।

□ श्री देवीशंकर शर्मा दिव्य

'जोय और जांय लोय ठौर जांय'

जनश्रुति पर आधारित ब्रज बोली में एक लिखित वार्ता

चर्चा है क्षीर-सागर की, जहाँ विष्णु भगवान् अपनी प्रियसी भगवती लक्ष्मीदेवी के साथ सृष्टि-संरचना और वाके पालन-पोषण के कार्य में प्रसन्नतापूर्वक लगे रहत है। भगवती लक्ष्मी देवी हू उनकी लोक-पालन लोक-संरक्षण की या सहज क्रिया में अपनी सहज सहयोग देति रहति हीं। दोउन की जीवन या विधि व्यतीत ह्वै रह्यो हो। एक दिन भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीदेवी सों कही— भगवती! और तो सब ठीक-ठाक है लेकिन भू-मण्डल के निवासिन की जि शिकायत मोपे विशेष रूप सों प्राप्त भई है कि तिहारे द्वारा जो अर्थ-व्यवस्था जगत् में चलाई जा रही है वा में सबसे बड़ी खराबी जि है कि अर्थ को समान बँटवारो तिहारे द्वारा नाहि है पायो है। काहू की स्थिति धौन्ना जैसी है और काहू को मुट्ठी भर चना हू नाहि नसीब ह्वै पावत हैं।

असमानता को यह व्यवहार तुम्हें समानता में बदलि देनो चहिये। दूसरी यह शिकायत हू मोपे आई है कि तुम स्थायी रूप सों काऊ पै अपनी अर्थ-सम्पदा के ज्यादा दिन टिकाने नाहि देति हो। मैंने मोय जि मालूम है कि तुम में जि कमी तुम्हारे स्वभाव की चंचलता के कारण है। तुम्हारे स्वभाव की चंचलता के कारन ही भूलोक की अर्थ-व्यवस्था अस्थिर और डगमग-डगमग-सी बनी रहति है।

याते लोक-कल्याण के हित में तुम्हें अपने स्वभाव में समाई चंचलता को परित्याग करिकें स्थिरता लानी चहिये। तिहारी या चंचलता के कारन ही लोक में यह कहनावत चलि परी है कि 'कंथे वा पर होय सुधार, जा घर बसे चंचला नार।' सो हे देवी तिहारी चंचलता के कारन मोऊ को लोगनु के बीच में लाञ्छित होनो परतु है।

लोकहित में और स्वयं लक्ष्मीदेवी के हित में कही गई भगवान् की जि हितकारी सीख लक्ष्मी जी कूँ नैकउ नाय सुहाई। उनने अपने व्यक्तिगत चरित्र पर या सिखावन कूँ सीधो हमला समझ्यौ और भगवान के समीप सों दूरि हटि के अलग जाय बैठी। बात यहाँ तक पहुँची कि भगवान सों उनने बोलचाल हू करिबो छाँड़ि

दियो। भगवान ने फिरि हू उन्हें बहुत समझायौ कि मैंने तुमसों जो कुछ कह्यो है सब लोक-कल्याण के हित में ही कह्यो है। व्यक्तिगत चरित्र-हनन की जामें कोई बात नांय है। पर लक्ष्मी देवी उनको सब बात हठवस अनसुनी करिकें उनसों न बोलिवे के अपने दुराग्रह पर ही कायम रहीं। भगवान ने हू अपने मन में उग्रता और कठोरता धारण करिकें स्पष्ट रूप सों यह आदेश दै दियो कि अगर तुम अपनी हठवादिता छोरिवे को राजी नांय हो तो फिर तुम्हें या क्षीर-सागर में रहिवे को हू अधिकार नाहिं है।

लक्ष्मीजी यह सुनिकें और हू तुनकि गईं और यह कहत भईं क्षीर-सागर सों बाहर आय गईं कि मो कूं यह दिखाई देतु है कि तुम यह समझे बैठे हो कि—"मोय और नांय तोय ठौर नांय" ऐसी दशा में ही मैं यहां रहि रही हूं, सो ऐसी बात नांय है।

आवेश की आग कबहूं आवेश सों नांय बुझति अपितु वह और तीव्रतर ह्वै जाति है। लक्ष्मीजी विष्णु जी को आदेश पायकें बिना कछु आगो-पीछो सोचें क्षीर-सागर छोरिकें जैसी बैठी थीं वैसी ही अन्यत्र त्रिलोकी में अपनो दूसरो ठौर देखिवे निकरि आईं। नारी-हृदय की दुर्बलता ने उन्हें यह विचारिवे कोहू अवसर नाहिं दियो कि त्रिलोकी को नाथ ही जब विमुख है तब और कहां कोई कैसे ठौर दे सकैगो?

परिणाम कुछ ऐसो ही सामने आयो। जगह-जगह जायकें तीनों लोकनि में लक्ष्मी जी ने उपयुक्त ठौर-ठिकाने की खोज की परि जब यह बात जानकारी में आई कि विष्णु भगवान ने अप्रसन्न ह्वै कें लक्ष्मी जी कों क्षीर सागर सों निकासि दियो है तब तो सब ही उन्हें आश्रय देवे सों कतरावन लगे। जहां-जहां जायकें वे ठौर मांगति रहीं वहां-वहां सों सबहीं नें नकारात्मक जवाबु ही उन्हें दियो। अन्त में घूमत-घूमत जब वे थकि गईं तब एक सुन्दर से सरोवर के किनारे पर जाय पहुंचीं। घने-घने वृक्षनि और निर्मल जल को आश्रय पायकें यहां सुन्दर स्वस्थ गायन को एक समूह बैठो भयो विश्राम करि रह्यो हो, वे वहीं रुकि गईं। गायें स्वयं में बड़ी ही सुभावनी और आकर्षक रूप रंग वारी थीं। ऐसो मालूम परतु हो कि देवराज इन्द्र ने इन्हें सभी देवोपम गुननि से समन्वित करि दियो है।

इन सबके दिव्य गुणन सों आकर्षित ह्वै कें लक्ष्मीजी इनके समीप बैठि गईं। लक्ष्मी-जी ने कह्यो तो कछु नांय किन्तु उनकी आंखिन सों क्षण-क्षण में टपकत धारे अश्रु-बिन्दुन सों उनकी विपन्नता व बेचैनी को पतो चलि गयो। एक वृद्धा गाय कूं दैवयोग से मानुषी वाणी की प्राप्ति भई। वाने लक्ष्मी देवी सों पूछनों आरम्भ कियो—बेटी बताओ, तुम कौन हो? कहां से आई हो, का चाहित हो और का लिये विपन्नता की दशा में विचरण करि रही हो? अपनी व्यथा-कथा कछु सुनाओ तो हम तुम्हें कछु न कछु उपाय बताय सकैंगी। वृद्धा गाय के मुख सों यह सुनिकें दुःखी देवी लक्ष्मी ने अपने पर बीती सब बात बताय दई और ये हू बताय दियो कि हौं भगवान विष्णु की परम प्रिय सेविका लक्ष्मी हूं। मेरे और भगवान के बीच में छोटी

सी बात पै अनमन ह्वै गई और लौबति नाहीं नौ पहुँची कि उनने मोय बलात् धकेलि कै क्षीर सागर सों बाहिर करि दियौ और यहीं तक कहि दई कि 'अब तिहारौ क्षीरसागर में रहिबे को कोई काम नांय है। तुम कहूँ और जाय कें अपनौ ठौर देखि लेउ।' बताओ मेरी मइया अब ऐसी विपन्नता में मैं कहाँ जाऊँ। मैं जहाँ-जहाँ गई हौं यहाँ-यहीं सौं यह जानि कैं कि भगवान ने अप्रसन्न ह्वै कैं मोय घर सों बाहिर करि दियौ है न तौ कोऊ ठौर देतु है और देऊ देय तौ फिर बाद में दये भये ठौर कौ छिनाय लेतु है। मैं तिहारी शरन में आयी हौं। मइय्या मेरी रक्षा करौ मोय रहिबे लायक थोरौ ठौर बताय देउ।

वा वृद्धा गाय ने लक्ष्मी को सान्त्वना दैकें कही—बिटिया हमारे देह-क्षेत्र में सारे देवता सर्वत्र बसे भये हैं,केवल हमारे मूत्र और गोबर को स्थान खाली है जहाँ काऊ देवता ने अपनौ आवास नाहिं बनायौ है—तुम चाहौ तौ अपनौ ठौर ठिकानौ यहाँ बनाय लेऊ। तिहारे ताईं हमें अपने गोबर और मूत्र में ही कल्याणकारी स्थान मालुम परतु है। बूढ़ी गाय की यह बात लक्ष्मीदेवी के मन में समाय गयी और बिना तनिक हू विलम्ब किये तुरन्त गाय के गोबर और मूत्र में उनने अपनौ आवास बनाय डारौ। बड़े आनन्द सों वे यामें विहार करन लगीं।

लक्ष्मी को आवास गाय के गोबर और मूत्र में ह्वै गयौ है यह समाचार गायन के देह क्षेत्र में बसे सब देवतन कों जब मिल्यौ तौ वे बड़े प्रसन्न भये। भगवान् धनवन्तरि ने और अश्वनी कुमारनु ने मिलि कैं अपने अमृत घट कों नित्य नियम सों लक्ष्मी आवास पर छिरकाव आरम्भ करि दियौ, जाकौ परिणाम जि भयौ कि गोबर और मूत्र दोनों में पावनता, सुन्दरता और रोग-नाशक शक्ति देवी ने हू अपनौ आवास लक्ष्मी देवी के संग ही बनाय लियौ। आयुर्वेद के प्रणेता ऋषिवर ने हू गोबर और गोमूत्र कों अपनी मान्यता प्राप्त करायकें याय अनेक असाध्य रोगन को महौषधि के रूप में अपनौ आशीर्वाद दै दियौ।

वामदेव हू ने अपने वंश की वृद्धि को आधार गोबर के खाद कों ही बतायकें याकी मान्यता बढ़ाय दई। पंचामृत की महिमा में हूँ गोमूत्र की अपनी विशेषता है। बिना याके मिश्रण के पंचामृत अर्थहीन ही बनौ रहतु है। ब्रज-प्रदेश में तौ गोबर-पूजन कौ त्यौहार ही गोवर्धन पूजा के रूप में गाँव-गाँव और घर-घर में मनायौ जातु है। गोबर पूजा कौ ही पर्यायवाची नाम गोवर्धन-पूजा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने यही रहस्य हमें गो-पालन और गो-चारन की परम्परा अपनाय कें समझायौ है। उनके और राम जन्म स्थान की महत्ता जाहि हम गर्भग्रह के नाम से जानत हैं—गोबर सों लीपन के कारण ही मंगलकारिणी और भव-दुःख हारणी बनी भई है। आयुर्वेद विशारदनि कौ हू सर्वमान्य मत है कि गोमूत्र और गाय के गोबर के नियमित लेपन के प्रयोग सों गलित कुष्ट हू समूल नष्ट ह्वै जातु है। भगवान शेषनाग हू, या बीच में आय गये और बोले गोमूत्र और गोबरके उपयोग के गुननि की गात और बखान करिबे

मैं भी हूँ अपने कों असमर्थ सौं पावत हूँ। मैं यहाँ क्षीर सागर छोरि कें याही कारन आयो हूँ कि भगवती लक्ष्मी देवी ने अपनो आवास यहाँ गोबर और गोमूत्र में बनाय राखौ है जाहि शास्त्र में स्वर्गलोक और देवलोक सों हूँ श्रेष्ठ बतायौ गयौ है। दूसरे यह बतावन हू मैं आयो हूँ कि क्षीर-सागर में क्षीर के स्रोत गौ मातनु के स्तन ही तो रहे हैं। लक्ष्मी को पक्ष लैकें यह सब स्रोत गव्यनु ने बन्द करि दिये हैं या सों क्षीरसागर दिन व दिन क्षीर-विहीन भयो जातु है। भगवान व्याकुल और बेचैन हैं अपनी वा भूल पै वे पछिताय रहे हैं कि मैंने वादिन अपनी भामिनी सों 'मोय और नाय तोय ठौर नाय' जैसी कड़वी बात कहिकें क्यों क्षीर-सागर सों निकारि बाहिर कियो। उनने ही अब लक्ष्मी लिवायबे को मोउ पठयो है—और कह्यौ है कि मेरी भूल-चूक क्षमा करिकें वेगि सों वेगि वे चलि आवैं। भगवान की सूनी-बिछुरी दसा कों डुलनाल सुनि कें लक्ष्मी को नारी हृदय द्रवीभूत ह्वै गयी। वे उठीं और आगी आ खड़ी भई तब माता गौ बोलीं—मइया! नारी के लिए पति आज्ञा ही सर्वोपरि है? भगवान अपनी भूल की—वेजा कहन-सुनन की क्षमा माँगि रहे हैं सो तुम मोय जाइबे की आज्ञा प्रदान करौ। मैं यह वचन दयें जाति हूँ कि मैं शरीर सौं भले ही भगवान के क्षीर-सागर में रहूँ परि गोबर और मूत्र में गुप्त रूप सौं सदा तुम्हारे सुहृदय में ही बनी रहौंगी। तथा लक्ष्मी रूप सों मैं गोबर के खाद में सदा अन्न देव की वृद्धि करती रहौंगी। साथ ही महाभारत की यह उक्ति हू सदा लोक में दुहराई जाति रहैगी कि—

गावः प्रतिष्ठा भूतानां
तथा गावः परायणम्।
गावः पुण्याः पवित्राश्च
गोधनं पावनं तथा॥

अर्थात् गौएँ सम्पूर्ण भूतों की प्रतिष्ठा हैं। गौएँ परम आश्रय हैं। गौएँ पुण्यमयी एवं पवित्र होति हैं तथा गोधन सबको पवित्र करावे वारौ सदा बनौ रहैगौ।

'आकाशवाणी मथुरा से साभार'

विचारिये और करिये

- कर्मफल छोड़ने से कर्मयोगी अनन्त गुना फल प्राप्त करता है।
- स्थितप्रज्ञ सारी इन्द्रियों को लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोग में जोतता है।
- वासना से छुटकारा हो तो मोक्ष है। मोक्ष का वासना से क्या लेना? जब वासना मुक्ति हो जाय तब समझो कि जीवन कला की भूमिका बन गई।
- भावनारूपी मोहर की कीमत है। कर्मरूपी कागज के टुकड़ों की नहीं।
- कर्मयोगी का कर्म उसे इस विश्व के साथ समरस कर देता है।
- समरस होने वाले कर्मयोगी जिस समाज में पैदा होते हैं उसमें सुव्यवस्था समृद्धि सौमनस्य रहता है। समरस होने को ही गीता में समत्वयोग की साधना कहा गया है।

—आचार्य विनोबा भावे

□ श्री डा. शरण प्रसाद

हृदय-रोग : कारण और निवारण

आधुनिक सभ्यता ने जिन अनेक कठिन एवं कष्टप्रद रोगों को जन्म दिया है, उनमें एक हृदय रोग भी है। हृदय-रोग के बारे में अनेक प्रकार के भ्रम और भय फैले हुए हैं। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली ने भी इस भ्रम और भय को बढ़ाने में काफी मदद पहुँचायी है।

हम लोग अनेक प्रकार की छोटी-मोटी बीमारियों को दीर्घकाल तक शरीर में पालते रहते हैं। औषधियों के द्वारा हम उनको व्यवस्थित रूप से काबू में रखने की पूरी कोशिश करते हैं। बहुत से लोग लापरवाही भी बरतते हैं। लेकिन अन्ततः जब हम उन्हीं रोगों के नियन्त्रण में आ जाते हैं, तब हृदय-रोग जैसे कष्टप्रद रोग का जन्म होता है। हृदय-रोग एकाएक नहीं, अपितु बहुत दिनों की आहार-विहार सम्बन्धी लापरवाही का परिणाम होता है।

हृदय-रोग कब होता है

हृदय-रोग का नाम सुनते ही व्यक्ति का मन भय, शंका एवं चिन्ता आदि से घिर जाता है। न जाने कब प्राणान्त हो जाय। हार्ट-फेल की दुर्घटनाओं से, बातचीत करते-करते, अखबार पढ़ते-पढ़ते या सोते-सोते ही रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसी कारण हृदय-रोगी में प्रायः आत्म-विश्वास धैर्य आदि का सम्पूर्ण या आंशिक अभाव पाया जाता है।

चिकित्सक यह बात भली-भाँति जानता है कि रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न करना चिकित्सा की नींव है। इसके अभाव में रोगी का आरोग्य-लाभ करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अनुभव से यह देखा गया है कि सशक्त मन वाले हृदय-रोगी का स्वास्थ्य-लाभ करना अपेक्षाकृत सरल होता है। दुर्बल मन वाले रोगियों की अवस्था दिन-प्रतिदिन गिरती जाती है। मन तथा हृदय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

आजकल हृदय-रोग बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। विशेषकर शहरों में हृदय-रोग तथा रक्तचाप की अधिकता पाई जाती है। तटस्थ बुद्धि से सोचने पर यह सहज ही समझ में आ जायगा कि हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव का निर्माण बहुत कुशलता एवं सूक्ष्मतापूर्वक हुआ है। उनमें सहसा दोष उत्पन्न हो ही नहीं सकता। और जब हृदय में स्वाभाविक की अपेक्षा नौगुनी कार्यक्षमता अधिक है तब तो यह गुण हृदय रोगी के लिए विशेष रूप से लागू रहता है।

परन्तु जब हम दीर्घकाल तक प्राकृतिक नियमों को भंग करते रहते हैं अच्छी आदतों को छोड़कर चाहे जैसे दुर्व्यसन में

फँसते हैं, कार्य के अनुपात में विश्राम विश्रान्ति की कमी तथा मानसिक तनाव-युक्त जीवन-क्रम व्यतीत करते हैं, तब हृदय-रोग उत्पन्न होने में देर नहीं लगती। मानसिक आघात या संघर्ष भी हृदय-रोग का महत्त्वपूर्ण कारण बन सकता है।

कब्ज, अपचन, वायुप्रकोप आदि छोटी-मोटी बीमारियों से सावधान होकर जो व्यक्ति इनको दूर करने की कोशिश करता है, जो दवाइयों के आधार के बिना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है, निश्चय मानिये कि ऐसे व्यक्ति को छोटा, तीव्र रोग होने की संभावना रहेगी, लेकिन हृदय-रोग की बीमारी उसको कदापि नहीं होगी। जब हम आरोग्य के लिए आहार-विहार में परिवर्तन या सुधार करने की अपेक्षा दीर्घकाल तक औषधि का आश्रय लेते हैं, तभी हृदय-रोग जैसी कठिन बीमारियों का सूत्रपात होता है।

हृदय-धड़कन-सम्बन्धी कुछ जानने योग्य बातें

(1) हृदय की गति आयु के अनुसार बदलती है। बच्चों के हृदय की गति युवकों की अपेक्षा तेज होती है।

(2) शारीरिक श्रम से हृदय की गति बढ़ती है। कठोर परिश्रम के समय हृदय की धड़कन 200 तक हो जाती है; क्योंकि उस समय रक्त में कार्बन डाई-ऑक्साइड की वृद्धि हो जाती है।

(3) शरीर में रक्ताल्पता होने पर धड़कन बढ़ती है, क्योंकि थोड़े से रक्त को ही शरीर में बार-बार फेंकना पड़ता है। उस दशा में रक्तचाप घट जाता है।

(4) ताप-वृद्धि यानि बुखार, घबराहट तथा भययुक्त अवस्था में हृदय की गति में वृद्धि होती है।

हम यहाँ कुछ रोगों का उल्लेख करना चाहते हैं, जिनके पश्चात् हृदय-रोग का होना प्रायः निश्चित माना जाता है। उन रोगों को हृदय-रोग के लिए खतरे की घंटी मानकर सतर्क और सावधान हो जायें। लेकिन शमनात्मक चिकित्सा का आश्रय न लिया जाय, क्योंकि इससे शरीर के विषाक्त पदार्थ शरीर में रोक दिये जाते हैं। फलतः हृदय को शीघ्र ही रोगाक्रान्त होने में सहायता पहुँचती है।

मोटापा :—मेद-वृद्धि और हृदय-रोग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मोटापे के कारण किशोर या युवावस्था की उम्र में हृदय पर उसका अनिष्टकारी परिणाम नहीं होता, लेकिन 35 से 45 वर्ष की गिरती उम्र में स्थूलता की वजह से हृदय-रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। खोज करने पर यह पाया गया है कि स्थूलकाय हृदय-रोगियों की अपेक्षा कृशकाय रोगियों की संख्या आठ गुनी कम है। इसके अलावा मोटापे के साथ-साथ रक्तवाहिनियों में जरठता तथा संकीर्णता उत्पन्न होती है, जो हृदय-रोग एवं रक्तचाप का मुख्य कारण बन जाता है। इसलिए मोटापे को हृदय-रोग की पूर्व सूचना मानकर उसका इलाज गम्भीरतापूर्वक करना चाहिए। अर्थात् वजन घटाने के लिए आहार-नियन्त्रण तथा व्यायाम आदि साधनों का आश्रय लेना चाहिए। मोटापा हृदय-रोग के अतिरिक्त मधुमेह, सन्धिवात, रक्तचाप जैसे जटिल रोगों का सहज में ही निमित्त बन जाता है।

आश्चर्य तो यह है कि अज्ञानी माता-पिता अपनी संतान की मेद वृद्धि को स्वास्थ्य का लक्षण मान बैठते हैं।

ज्ञान-तन्तु का तनाव :—आधुनिक तनावयुक्त अति गतिशील जीवन भी हृदय-रोग तथा रक्तचाप का प्रमुख कारण है। मानसिक श्रम के साथ शरीर-श्रम या व्यायाम का पूर्ण अभाव रहता है। इससे बुद्धि के अनुपात में शरीर का आवश्यक विकास नहीं होता और वह विभिन्न रोगों का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है।

मानसिक श्रम की थकान दूर करने के लिए घूमना-फिरना, खेलना या स्वस्थ मनोरंजन की ओर हमारा झुकाव नहीं होता, बल्कि रात देर तक जगने से व्यसनों में फंसने से या क्लबों और पार्टियों में, सिनेमा, नाचगानों आदि कार्यक्रमों में जाकर हम थकान में और भी वृद्धि कर लेते हैं।

काम के घंटों से शरीर को तो छुट्टी मिल जाती है, लेकिन उस समय भी दिमाग में दफ्तर की फाइलें घूमती रहती हैं। रात को सपनों में भी कभी-कभी कामकाज चालू कर देते हैं। बाहरी काम के समय ऑफिस की चिन्ता तथा ऑफिस के घंटों में बाहर की चिन्ता, ऐसी अजीब-सी चिन्ता से भरे हुए दिमाग को कभी विश्रान्ति नहीं मिलती। विश्रान्ति के समय भी हमारा दिमाग शान्त तथा स्वस्थ नहीं होता, वह सदैव परेशान ही रहता है। सतत मानसिक तनाव से अनिद्रा-रोग लग जाता है। जो रक्तचाप तथा हृदय-रोगों का कारण बन सकता है।

इस दिमागी परेशानी, तनाव तथा मानसिक दुर्बलता से हृदय-रोग, रक्तचाप, मेद-वृद्धि तथा पाचन और ज्ञान-तन्तु-सम्बन्धी रोगों की वृद्धि तेजी से हो रही है।

विश्रान्ति के समय हमारे दिमाग में काम-काज की चिन्ता बिल्कुल न रहे। खेल-कूद में भाग लेने से ज्ञान-तन्तुओं का तनाव आश्चर्यजनक ढंग से कम होता है। उस समय सभी अंग-प्रत्यंगों में रक्त का संचार होता है, जिससे दिमाग हल्का एवं प्रफुल्लित हो जाता है।

प्रातःकाल एवं सायंकाल प्रार्थना, रात्रि को सोने से पहले दैनिक-चर्या का लेखा-जोखा करके आत्म निरीक्षण करना और जो दोष उस समय स्पष्ट महसूस हों, उनको भविष्य में न करने का संकल्प करना। इससे भी मानसिक तनाव तथा दुर्बलता दूर होती है। श्वासन से भी इस कार्य में अच्छी सहायता मिलती है।

रक्तचाप :—रक्तचाप हृदय-रोग की पूर्वावस्था है। रक्तचाप-वृद्धि के फलस्वरूप लकवा या हृदय-रोग होना प्रायः अवश्यम्भावी है। मोटापा तथा ज्ञान-तन्तु के तनाव से रक्तवाहिनियाँ सख्त एवं संकीर्ण हो जाती हैं।' उनमें रक्त प्रवाहित करने के लिए हृदय-कोष्ठकों को अधिक दबाव डालकर रक्त फेंकना पड़ता है। इस प्रकार सतत अतिश्रम के कारण हृदय क्लान्त होकर विभिन्न रोग-लक्षणों से ग्रस्त हो जाता है।

मधुमेह :—सख्त तथा संकीर्ण रक्त-वाहिनियों से वृक्क रोगाक्रान्त होता है। अर्थात् वह रक्त को छानकर शुद्ध करने का

कार्य भली-भाँति नहीं कर पाता। इससे रक्त में यूरिक अम्ल की वृद्धि होती है। कालान्तर में जब यह यूरिक अम्ल संधियों में संचित होने लगता है, तभी संधिवात रोग उत्पन्न होता है।

संधिवात-रोग के समय रक्तवाहिनियों में कोलेस्टेरोल तथा कैल्सियम आदि क्षारों की सूक्ष्म तह जमने से वह कड़ी एवं संकीर्ण हो जाती है। फलतः हृदय के रक्तवाही कोष्ठों तथा कपाटिकाओं में भी कठोरता उत्पन्न होती है, जिससे रक्ताभिसरण-सम्बन्धी कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है। कड़ी तथा संकीर्ण रक्तवाहिनियों द्वारा रक्त-संचार करने में हृदय को अतिश्रम उठाना पड़ता है और कालान्तर में थककर वह रोगाक्रान्त हो जाता है।

इसलिए जीर्ण संधिवात के रोगियों के हृदय-कोष्ठों एवं कपाटिकाओं में जब दोष उत्पन्न होता है, तब उसको संधिवात-हृदय कहते हैं।

इस अवस्था में हृदय में कपाटिका-दोष के कारण रक्त पुनरागमन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। कभी-कभी हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती है। फलतः रोगी घबराहट का अनुभव करता है। इस अवस्था में एलोपैथी में कार्टीसन औषधियों का प्रयोग होता है। लेकिन वह औषधि हृदय को नुकसान पहुँचाती है।

वायु-प्रकोप :—वायु-प्रकोप की प्रारम्भिक अवस्था में अपचन के कारण जब आमाशय, आँतों में वायु होता है, तब सशक्त आँतें उनको आसानी से बाहर निकालने में समर्थ होती हैं। परन्तु रोग पुराना होने पर दुर्बल आँतें उनको नीचे की ओर ढकेल कर बाहर नहीं निकाल पातीं और वायु-ऊर्ध्वगामी बनकर आमाशय हृदय पर दबाव डालने लगता है। उस समय हृदय धड़कन की गति में वृद्धि, घबराहट, स्नायु-दौर्बल्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं। जब तक वायु-प्रकोप शान्त नहीं हो जाता, तब तक उपर्युक्त रोग-लक्षण शान्त नहीं होते। वायु डकार या अपान वायु के रूप में निकलने पर रोगी को तुरन्त राहत मिल जाती है।

इस प्रकार निर्दोष हृदय में भी वायु-प्रकोप के प्रतिक्रिया स्वरूप सामान्य रोग-लक्षण पैदा होते हैं। तथापि दीर्घकालीन वायु-प्रकोप से पीड़ित रोगियों को हृदय-रोग लागू हो सकता है।

अतएव हृदय-रोग अथवा लकवा से बचने के लिए रक्तचाप रोग को निर्मूल करना नितान्त आवश्यक है। सर्पगंधा आदि औषधियों के द्वारा शमनात्मक चिकित्सा करने पर रक्तचाप कुछ समय के लिए तो कम हो जाता है, लेकिन इसका अनिष्टकारी परिणाम हृदय पर हुए बिना नहीं रहता। औषधि के प्रयोग से रोग निर्मूल नहीं होता, बल्कि गम्भीरतर रोगों में उसका रूपान्तर मात्र होता है। □ (कल्याण से साभार)

दैव और पुरुषार्थ ?

[पुरुषार्थ किये बिना दैव यानी भाग्य कुछ भी सहायता नहीं कर पाता । इसलिए पुरुषार्थ ही सर्वत्र वन्दनीय रहता है ।
—सम्पादक]

प्राचीन काल की बात है, भगवान वसिष्ठ ने लोक पितामह ब्रह्मा जी से पूछा—प्रभो ! दैव और पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है । ब्रह्मा जी ने कहा—मुने ! बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है, अंकुर से पत्ते होते हैं । पत्तों से नाल, नाल से तने और डालियाँ होती हैं । उनसे पुष्प प्रकट होता है । फूल से फल लगता है और फल से बीज उत्पन्न होता है । और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है । बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता । बीज से बीज प्रकट होता है और बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी जाती है ।

किसान खेत में जाकर जैसा बीज बोता है, उसी के अनुसार उसको फल मिलता है । उसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है । जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं सिद्ध होता । पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज बताया गया है । खेत और बीज के संयोग से ही अनाज पैदा होता है । कर्म करने वाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्म का फल स्वयं ही भोगता है यह बात संसार में प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है । शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है । अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है । बिना किए हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता । पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है, वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुःख पाता है । मनुष्य को तपस्या से रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कर्म से सब कुछ मिल सकता है, परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहने वाले को कुछ नहीं मिलता ।

इस जगत में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है । नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्य लोक से देवलोक को गये हैं । जो पुरुषार्थ नहीं करते वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते । ब्राह्मण शौचाचार से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य उद्योग से तथा शूद्र तीनों वर्णों की सेवा से सम्पत्ति पाता है । न तो दान न देने वाले कंजूस को धन मिलता है, न नपुंसक को, न अकर्मण्य को, न कर्म से जी चुराने वाले को, न शौर्यहीन और न तपस्या करने वाले को ही मिलता है ।

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओं की भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान विष्णु समुद्र में रहकर तपस्या करते हैं । यदि अपने कर्मों का फल न प्राप्त हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाय और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जायें । मनुष्य के योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैव का अनुसरण

करता है, वह दैव का आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पति को पाकर भी कष्ट ही भोगती है। इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्मों से उतना भय प्राप्त नहीं होता, जितना कि देवलोक में थोड़े से पाप से भय होता है। किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता। देवताओं में भी जो इन्द्रादि के स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं। पुण्यकर्म के बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा और कैसे वह दूसरों को स्थिर रख सकेगा। देवता भी इस लोक में किसी के पुण्यकर्म का अनुमोदन नहीं करते हैं अपितु वे अपनी पराजय की आशंका से पुण्यात्मा पुरुष में भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं, जिससे उनके धर्म में विघ्न उपस्थित हो जाय।

ऋषियों और देवताओं में सदा कलह होता रहता है। देवता ऋषियों की तपस्या में विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबल से देवताओं को स्थान भ्रष्ट कर देते हैं फिर भी दैव के बिना केवल कथन मात्र से किसको सुख या दुःख मिल सकता है क्योंकि कर्म के मूल में दैव का ही हाथ है। दैव के बिना पुरुषार्थ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। क्योंकि प्रवृत्ति का मूल कारण दैव ही है। जिन्होंने पूर्वजन्म में पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कारवश पुण्य में प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्य-कर्मों में ही लग जायें। देवलोक में भी दैव-वश ही बहुत से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं। आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्म का साक्षी है। प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ तो नष्ट हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पापकर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं। देवताओं का आश्रय पुण्य ही है। पुण्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुष को पाकर दैव क्या करेगा। पूर्वकाल में राजा ययाति पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े थे, परन्तु उनके पुण्यकर्मा दौहित्री ने उन्हें पुनः स्वर्ग-लोक में पहुँचा दिया। इसी तरह पूर्वकाल में ऐल नाम से विख्यात राजर्षि पुरुरवा ब्राह्मणों के आशीर्वाद देने पर स्वर्गलोक को प्राप्त हुए थे।

अश्वमेध आदि यज्ञों द्वारा सम्मानित होने पर भी कौशल नरेश सौदास को महर्षि वसिष्ठ के शाप से नरभक्षी राक्षस होना पड़ा था। इसी प्रकार अश्वस्थामा और परशु-राम ये दोनों ही ऋषि पुत्र और धनुर्धर वीर हैं। इन दोनों ने पुण्यकर्म भी किए हैं तथापि उस कर्म के प्रभाव से स्वर्ग में नहीं गये। द्वितीय इन्द्र के समान सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषण के दोष से रसातल को चले गये। विरोचन कुमार बलि को देवताओं ने धर्मपाश से बाँध लिया और भगवान् विष्णु के पुरुषार्थ से वे पातालवासी बना दिये गये। राजा जनमेजय द्विज स्त्रियों का वध करके इन्द्र के चरण का आश्रय ले जब स्वर्गलोक को प्रस्थित हुए तो उस समय दैव ने आकर उसे क्यों नहीं रोका। यद्यपि वैशम्पायन अज्ञानवश ब्राह्मण की हत्या करके बाल-वध के पाप से भी लिप्त हो गये थे तो भी दैव ने उन्हें स्वर्ग जाने से क्यों नहीं रोका। पूर्व काल राजर्षि मृग बड़े दानी थे। एक बार किसी महायज्ञ में ब्राह्मणों

को गौदान करते समय उनसे भूल हो गई अर्थात् एक गऊ को दुबारा दान में दे दिया जिसके कारण उन्हें गिरगिट की योनि में जाना पड़ा। राजर्षि धुन्धुमार यज्ञ करते-करते बूढ़े हो गये तथापि देवताओं के प्रसन्नतापूर्वक दिये गये वरदान को त्याग कर गिरिव्रज में सो गये (यज्ञ का फल नहीं पा सके)।

महाबली धृतराष्ट्र पुत्रों ने पाण्डवों का राज्य हड़प लिया था। उसे पाण्डवों ने पुनः बाहुबल से ही वापस लिया, दैव के भरोसे नहीं। तप और नियम में संयुक्त रहकर कठोर व्रत का पालन करने वाले मुनि क्या दैवबल से ही किसी को शाप देते हैं, पुरुषार्थ के बल से नहीं। संसार में समस्त सुदुर्लभ लाभ किसी पापी को प्राप्त हो जाएं तो भी उसके पास टिकते नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़कर चल देते हैं। जो मनुष्य लोभ और मोहमें डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकट से नहीं बचा सकता। जैसे थोड़ी-सी भी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है। जैसे तेल समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है। उद्योगहीन मनुष्य धन का बहुत बड़ा भण्डार, तरह-तरह के भोग और स्त्रियों को पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता, किन्तु सदा उद्योग में लगा रहने वाला महामनस्वी पुरुष देवताओं द्वारा सुरक्षित तथा गाड़ कर रखे हुए धन को भी प्राप्त कर लेता है।

जो दान करने के कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुष के पास उसके सत्कर्म के कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उनका घर मनुष्यलोक की अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक सा हो जाता है। परन्तु जहाँ दान नहीं होता, वह घर बड़ी भारी समृद्धि से भरा हो तो भी देवताओं की दृष्टि में वह श्मशान के ही तुल्य जान पड़ता है। इस जीव जगत में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखाई देता। दैव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लगा दे। जैसे शिष्य गुरु को आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थ को ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है।

मुनिश्रेष्ठ! मैंने सदा पुरुषार्थ के ही फल को प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूप से ये सारी बातें तुम्हें बताई हैं। मनुष्य दैव के उत्थान से आरम्भ किये हुए पुरुषार्थ से उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्म से ही स्वर्गलोक का मार्ग पा सकता है।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥

अर्थात्—मनुष्य को तपस्या से रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कर्म से सब कुछ मिल सकता है; परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहने वाले को कुछ नहीं मिलता। —महाभारत दान-धर्म पर्व

चार कविताएं :-

जीवन-बोध

जीवन बीत रह्यो रोने में,
दिन भर करी चाकरी तन से,
रात गई सोने में ।
जीवन बीत रह्यो रोने में ।।
काम, क्रोध, मद, लोभ मोह की,
लगी बजरिया मन में ।
झूठ बोल जग काज सम्हारे,
सत्य धरि राख्यो कोने में ।। जीवन....
दम्भ, कपट, छल मित्र हित माने,
सुख समझो स्वारथ में ।
दृश्य-जगत है एक छलावा,
समझो, दुख होने में ।। जीवन....
बाल अवस्था राम न जानें,
युवा गई ऐंठन में ।
वृद्ध भये तब कोउ न पूछे,
दाल मिले दोने में ।। जीवन....
'सूक्ष्म' की बात मान मेरे मनवा,
सच्चो सुख भजन में ।
जग में रहकर बनो अकेले,
राम मिलहि कोने में ।। जीवन....

चाह

चाह करी तिन भरम गंवाया,
चाह नहीं पूरी होती ।
जीवन डोरी हाथ किसी के,
कर्म की रेख नहीं थोथी ।
जब होगा वही "राम रचि राखा",
शीश पकड़ फिर क्यों रोती ।
जो बचा 'सूक्ष्म' सा समय उसी में,
जला ज्ञान-दीपक ज्योती ।।

गीत

राम के बिना सूनी देह की कुठरिया ।
ज्ञान के बिना सूनी जीव की नगरिया ।।

बिना ज्ञान कल्याण न सम्भव,
बिना गुरु के ज्ञान असम्भव,
गहले गुरु की डगरिया ।।
ज्ञान के बिना....

बालक और युवापन खोया,
देख बुढ़ापा अब क्यों रोया,
कैसी भार है उमरिया ।।
ज्ञान के बिना....

बीती ताहि छोड़ मन मूरख,
हो जा अब भी तू अन्तर्मुख,
लागै 'सूक्ष्म' की डगरिया ।।
राम के बिना....

卐

राम नाम

राम का सहारा लियो नानक और कबीर ने,
नाम के सहारे तुलसिहु गति पाय गये ।
हिन्दी भाषा में श्री रामचरितमानस लिख,
मुक्ति को मार्ग जन-जन को दिखाय गये ।
नाश की घड़ी है 'अहम्' त्याग में भरो सुख,
राम के प्रकोप में रावण से समाय गये ।
सत्य की हमेशा विजय झूठ की पराय होत,
झूठ बोल-बोल झूठे कारे मुंह कराय गये ।।

□ श्री रवीन्द्र प्रकाश झा 'सूक्ष्म'

एक आध्यात्मिक विवेचन :—

लय और विक्षेप

□ योगिराज श्री भोले बाबा

[लय और विक्षेप को समझ लेना और समझकर तदनुसार अनुष्ठान करना योग-साधकों के लिए सिद्धि का कारण बन जाया करता है। कैसे? श्री भोलेबाबा ने इसी को प्रस्तुत लेख में अपनी सरल भाषा शैली में समझाने का सदप्रयास किया है। —सम्पादक]

सर्वत्र प्राणिनां देहे,
जपो भवति सर्वदा।
हंसः सोहमित्ति ज्ञात्वा,
सर्वं बंधात्प्रमुच्यते ॥

अर्थ—सब प्राणियों के देह में 'हंसः सोहं' जप हमेशा हुआ करता है 'वह हंस मैं हूँ' ऐसा जानने वाला सब पापों से मुक्त हो जाता है।

सब प्राणियों का जीवन प्राण से है, प्राण बिना कोई प्राणी जीता नहीं है, जिसमें प्राण का गमनागमन नहीं होता है वह जड़ कहलाता है, उसे अपना और दूसरों का बोध नहीं होता, प्राण वाले को ही बोध हो सकता है। प्राणी जिस प्रकार की बुद्धि वाला होता है उसी के अनुसार बोध कर सकता है, मनुष्य सब से अधिक बुद्धि वाला होने से लौकिक और पारलौकिक बोध करने की सामर्थ्य वाला होता है। पहिले उपरोक्त प्राण अपान की संधि को दिखलाया है, प्राण अपान की गति का उदय-अस्त हुआ करता है इससे संधि भी हुआ ही करती है-बिना प्रयत्न हुआ करती है, इसमें 'हंस' और 'सोहं' की आवाज होने से उसे जप कहते हैं, यह जप स्वाभाविक होता रहा है इसी से उसका नाम अजपा जप है। बिना किये हुये जो जप हो उसे अजपा कहते हैं। उसी में दो वर्ण हैं हं और सो यह उलटे सुलटे उच्चारसे 'सोहं' और 'हंस' होता है। श्वास के निकलने में "हंसो" का उच्चार होता है और प्रवेश में "सोहं" का उच्चार होता है श्वास के प्रवेश में "हंसो" और निकलने में "सोहं" होता है। यह दोनों की एकता है दोनों का उत्पत्ति लय स्थान शुद्ध चैतन्य है, हं (मैं जीव स्वरूप से) सो (वह परब्रह्म) हूँ और सो (परब्रह्म) हं (मैं) हूँ। गायत्री के अर्थ का समावेश प्रथम बताये हुए अजपा में होता है इसी से अजपा को भी गायत्री कहते हैं।

'हं' आत्मा और 'स' जगत् है इसी से आत्मा जगत है और जगत् आत्मा है। तत्व से दोनों की एकता है। ऐसे हंस और सोहं का जाप प्रत्येक प्राणी को होता रहता है परन्तु अज्ञान में पड़े हुए मनुष्यों को इस एकता—अद्वैत का बोध नहीं होता। इसी से संसार चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। प्राण अपान के लक्ष सहित उनके वर्ण को जो जानता है-चित्त को लगाता है वह अजपा जाप का यथार्थ करने वाला है और उस साधक को एकता का बोध होने से परमपद की प्राप्ति होती है।

नासिका के भीतर चलने वाले प्राण और अपान के ऊपर लक्ष रखने से प्राण निर्मल होता है और प्राणापान और अपान प्राण की संधि दीर्घ होती है उसमें स्वस्वरूप का बोध होता है। योग शास्त्रानुसार शरीरमें षट्चक्र है। आधार, स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। आधार चक्र का स्थान गुदा, स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान लिंग की जड़ है, मणिपुर चक्र का स्थान नाभि है,

अनाहत चक्र का स्थान हृदय है, विशुद्ध चक्र का स्थान कंठ है और आज्ञा चक्र का स्थान भृकुटि का मध्य है। ये चक्र अज्ञान दशा में जगत् की तरफ मुख वाले होते हैं। उनके ऊपर क्रम क्रम से प्राणापान की गति और सन्धि का ख्याल करते रहने से, संधि में टिकते रहने से चक्र मलरहित होते हैं और शुद्ध होकर उलट जाते हैं। जो जगत् की तरफ पूर्वाभिमुख थे वे आत्मा की तरफ पश्चिमाभिमुख वाले होते हैं और अधिक अभ्यास से मेरु दण्ड के मार्ग से साधक स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

हंस ॐकार स्वरूप है। ॐकार में भी दो पद हैं एक संसारी और दूसरा असंसारी। अकार उकार और मकार जगत् के होने से संसारी है वह 'स' स्वरूप है अमात्र 'हं' पारमार्थिक होने से असंसारी। 'स' का 'हं' में लय करने परमपद होता है इसी से 'हंस' का जप भी ॐकार का जप है, इससे प्रत्यगात्मा और परमात्मा की एकता होती है।

इस अजपा जप में देश काल और आसन पात्रादिक साधन की आवश्यकता नहीं है। बैठे सोते खड़े रहते और चलते-फिरते जप को कर सकते हैं, क्योंकि केवल लक्ष को ध्यान में रखना है। स्वस्वरूप का बोध हो जाना यानी जीव ब्रह्म की तत्व से एकता का दृढ़ निश्चय होना इस जप का पूर्ण फल है। ज्ञानी पुरुष जिसका आत्मभाव दृढ़ है आत्मा का अपरोक्ष है उसे इस जप की आवश्यकता नहीं है। जिसे स्वस्वरूप का दृढ़ बोध नहीं है उसे यह जप करना चाहिए।

जो स्वाभाविक क्रिया हुआ करती हो किन्तु जब तक उसका वास्तविक रहस्य नहीं जानते तब तक उसे करके होने वाले पूर्ण फल को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः यह स्वाभाविक है, हुआ ही करता है ऐसा समझकर उसके रहस्य की खोज न करना मूर्खता और लापरवाही है। अनन्त काल से पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से पदार्थों को अपनी तरफ खींच रही है, जब तक उस रहस्य को नहीं जानते थे तब तक उस शक्ति का अपने कार्यों में उपयोग नहीं कर सकते थे। जब उसको जान लिया तब से अनेक प्रकार से उसको उपयोग में ला रहे हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में प्राणापान की क्रिया चलती रहती है उसके रहस्य को न समझे वहाँ तक उससे होने वाले महान लाभ को प्राप्त नहीं कर सकते।

पूर्वकाल में दिव्य श्रवण, दिव्य दर्शन आदि योग की क्रियाओं का अधिक प्रचार था वह भी इन्द्रियों को दिव्य करके व्यापक तत्व से दोनों छोर को जोड़ देते थे वे ही दिव्य श्रवण आदि थे। यह मानसिक सूक्ष्म भाव था, टेलीफोन और वायरलेस टेलीग्राफ उसका स्थूल स्वरूप है।

प्राणापान की क्रिया के भीतर भी यह व्यापक तत्व ही भरा हुआ है। प्राणापान उत्पत्ति लय वाले और विकारी हैं, जिसमें और जिससे उनकी उत्पत्ति और लय होता है वह स्थिर तत्व है। जब चैतन्य को उस चैतन्य से चैतन्यता की प्राप्ति होती है। अजपना जप में जो लक्ष देकर उस तत्व का साक्षात्कार करता है उसे अपरिवर्तन वाली महानता की प्राप्ति होती है। इस तत्व को यथार्थ जानने वाला जानकर तत्व स्वरूप हो जाता है और सब प्रकार के बन्धनों से हमेशा के लिये रहित होकर आनन्द स्वरूप होता है। □

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जीवन का तारतम्य

यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि जो जन्म लेता है उसका कभी न कभी अन्त ही होगा। बहुत से कीटाणुओं का जीवन कुछ दिनों का ही होता है। दूसरे प्राणी सौ वर्ष या उससे भी अधिक जीवित रहते हैं। मृत्यु उतनी ही बड़ी एक पहेली है जैसा जन्म। कोई भी अपनी इच्छा से जन्म नहीं लेता। इसी प्रकार कोई जल्दी स्वेच्छा से मरना नहीं चाहता। इसी प्रकार मनुष्य के सम्मुख यह चिरकाल से एक समस्या रही है कि बुढ़ापे या मृत्यु को किस प्रकार जीता जा सके। हमारे शरीर रोगों और व्याधियों के मन्दिर हैं। अशक्त वृद्ध शरीर होते हुये भी हम अधिक काल तक जीवित रहना चाहते हैं। औषध शास्त्र सदा से प्रयत्नशील रहा है कि हमारी आयु को किस प्रकार बढ़ाया जाय, हम अधिक काल तक रोग से बचे रहें और हम मृत्यु से दूर और बहुत दूर रहें। हम उत्सुक हों या न हों, किन्तु एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब हम अपने को मृत्यु से घिरा पायेंगे, और इससे कोई छुटकारा न होगा।

प्रश्न यह उठता है कि हम कहां से आये हैं और अन्त में हमको कहां जाना है। ये दो प्रश्न हैं जो चिरकाल से बुद्धिमान व्यक्तियों को चक्कर में डाले हुये हैं और इनका समाधान भिन्न-भिन्न रूप से विद्वानों ने समय-समय पर दिया है। सभी लोगों के हृदयों में यह शंका उत्पन्न होती है। यह शंका अपने से ही सम्बन्ध रखने वाली है फिर भी हम इसको नहीं जानते। हम अपने ही भविष्य को नहीं जानते। यह कैसी आश्चर्यजनक बात है। हमारे ही बारे में और अपने ही द्वारा इस प्रश्न का समाधान होना है। हम ही शंका करने वाले हैं, हमारे ही सम्बन्ध में यह शंका है, और हम ही इसका उत्तर देने वाले हैं।

एक उत्तर तो जीव विज्ञानशास्त्र के अनुसार है। हम अपने शरीर के एक भाग हैं। अपने शरीर से पृथक् हमारी स्थिति नहीं है। हमने जीवित कोशिका के बारे में लिखा है कि पिता के गुण किस प्रकार सन्तान में पाये जाते हैं। यही कारण है कि व्यक्ति के मर जाने पर भी जाति जीवित रहती है। जीव-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला यह उत्तर बड़ा आश्चर्यजनक है। पर यह निम्न कोटि का प्रतीत होता है। हममें से प्रत्येक जो दर्शन और विज्ञान में विश्वास करता हो उसको यह अजीब लगेगा कि हमारा समस्त व्यक्तित्व केवल रासायनिक और जैव-वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ही परिणाम हो।

कुछ विद्वानों ने इसके समाधान करने का यत्न किया है। यह आत्माओं की अमरता से सम्बन्धित है। परम प्रभु की

दशा से उनको भिन्न-भिन्न योनियों में रक्खा गया है। उसकी कृपा के सहारे हमारा जन्म होता है। वह हमको एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है। हमारे वर्तमान का आधार भूत काल पर रहता है। इसी तरह जो कुछ हम वर्तमान में उपलब्ध करते हैं, भविष्य का निर्माण उस पर होता है।

जब हम जन्म लेते हैं, तो हम अपने साथ दो प्रकार के पैतृक गुणों को लाते हैं। एक का सम्बन्ध जीव विज्ञान से है जिसमें हम शारीरिक गुण और दोष लेकर आते हैं। ये गुण माता-पिता से सन्तान में आते हैं। दूसरे गुण अपनी परम्परा के सहारे हम स्वयं लेकर आते हैं, ये गुण एक जीवन से दूसरे जीवन में घटते बढ़ते रहते हैं। ये दोनों ही पैतृक गुण हम एक साथ लेकर आते हैं और इनमें आपस में कोई संघर्ष नहीं होता।

जीव विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलते आते हैं। इनका विकास अपने पृथक् विधान के द्वारा होता रहता है। यह विधान भौतिक गुणों के कारण होता है। परन्तु एक सूक्ष्म आवरण हमारी आत्माओं के चारों ओर घिरा रहता है। इसको सूक्ष्म शरीर के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी के द्वारा हम कुछ निजी गुण एक जन्म से दूसरे जन्म को लेकर जाते हैं। जब एक शरीर से दूसरे में प्रवेश करते हैं तो वे गुण छिपे रहते हैं, और कभी-कभी प्रगट भी हो जाते हैं। इसमें कुछ परिवर्तन भी होता जाता है। आत्मा अपने विशेष गुणों को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में ले जाती रहती है।

जब एक वीर्य बिन्दु का स्त्री के रज से सम्बन्ध हो जाता है तो सूक्ष्म शरीर अपने विशिष्ट गुणों को लेकर उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार भौतिक और अभौतिक शरीरों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है, भौतिक शरीर अपने विधान के अनुसार कार्य करता रहता है। इसका सम्मिलन अभौतिक विधान होता है। इसको एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। आत्मा के चारों ओर जो सूक्ष्म शरीर होता है उसको भौतिक शरीर का आवरण ढक लेता है। जब कोई मरता है तो भौतिक शरीर पड़ा रह जाता है। आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर को लेती हुई दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। इसी प्रकार जीवन चलता रहता है।

इस प्रकार जीव विज्ञान हमको बताता है कि किस प्रकार भौतिक शरीर एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करके बना रहता है। इस प्रकार हमारा जीवन अजर अमर बना रहता है। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह फिर जन्म लेगा। इसमें व्यग्र होने का कोई स्थान नहीं। हम अनन्त काल से इसी प्रकार चलते आये हैं और अनन्त काल तक इसी प्रकार आगे भी चलते जायेंगे। जो उपलब्धि एक जीवन में न हो सकी वह दूसरे जीवन में हो जायगी। इस यात्रा का एक उद्देश्य है। यह सूक्ष्म शरीर आत्मा के गुणों की एक निश्चित सीमा के भीतर कार्य करता रहता है। इसमें एक मात्र सहारा उस प्रभु की अपार दया का है। हमको जीवन में अवसर मिलते रहते हैं जिसके द्वारा अपने गुणों का विकास कर सकते हैं और परम आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार जीवन का एक तारतम्य है और इसका निश्चित उद्देश्य भी है।

☐ एक एकान्तवासी योग-साधक

हठयोग क्यों और कैसे ?

जैसे मन्त्रयोग के साधनों में नाम-रूप के अवलम्बन से साधन की विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूल शरीर के अधिक अवलम्बन से चित्तवृत्ति निरोध करके योगसाधन की प्रणाली हठयोग में बतायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार से श्री भगवान् के निकट पहुँचने के लिये साधन के आठ सोपान बतलाये गये हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से ऊँचे हैं। बहिरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को 'नियम' कहते हैं। योगसाधन के सहायक शरीर बनाने को 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायु पर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनाने को 'प्राणायाम' कहते हैं। मन को बाहर से खींचकर भीतर की ओर लाने को 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतर में मन को ठहरा रखने को 'धारणा' कहते हैं। इष्ट रूपी ध्येय में मन को लगा रखने को 'ध्यान' कहते हैं और इष्ट में मन को लीन करके अपने को भूल जाने को 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्ग योग' का सार है। इनमें से चार अङ्ग बाहर के हैं और चार अङ्ग भीतर के हैं। इन आठों का बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारों में से मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणी के साधनों में इन आठों अङ्गों में से किसी में किसी अङ्ग पर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधन में किसी दूसरे अङ्ग पर विशेष ध्यान दिया गया है। शास्त्रों में कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदि की कृपा से इस कल्प में हठयोग का विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्मों के भोग का आश्रय रूपी स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संघटन होता है तथा सूक्ष्म शरीर एक ही सम्बन्ध युक्त होकर रहता है, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारी विशेष के लिये स्थूल शरीर प्रधान योग-क्रियाओं का आविष्कार योगशास्त्र में किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ उस पर सम्पूर्ण आधिपत्य

कर लेता है और क्रमशः उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इसी योगप्रणाली को हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोग में जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यान की विधि है, हठयोग में वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करने की विधि रखी गयी है। अन्तर्जगत् के पवित्र भावों को आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियों के ध्यान के लिए मन्त्रयोग में उपदेश है, उसी प्रकार परमात्मा को सब ज्योतियों का ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूप की कल्पना करके ध्यान का अभ्यास करने की व्यवस्था हठयोग में है। मन्त्रयोग-समाधि में नाम-रूपों की सहायता से समाधि-लाभ करने की साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोग में वायुनिरोध के द्वारा मनका निरोध करके समाधि लाभ करने की विधि है। मन्त्रयोग-समाधि को 'महाभाव' और हठयोग समाधि को 'महाबोध'-समाधि कहा जाता है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोग के सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गों के क्रमानुसार साधन द्वारा क्या-क्या फल प्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्र में वर्णन है—

घट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः॥

'षट्कर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन के द्वारा दृढ़ता, मुद्रा के द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम-साधन द्वारा लाघव ध्यान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्ति लाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभों के सिवा हठयोग के प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्ग के साधन द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य-विषयक भी विशेष लाभप्रद होता है, जो योगिराज श्री गुरुदेव से जानने योग्य है। धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपाल भाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्म की कहलाती हैं। हठयोग के अनुसार बैठकर साधन करने के तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोग के अनुसार आठ प्रकार के प्राणायाम की क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोग में पच्चीस मुद्रा-साधन की विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करने वाली होती हैं। प्रत्याहार में भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि दोनों में भी मदद करती है, जो हठयोग का अन्तिम साधन है। □

चित्त और चिन्ता

दिन जाता है रात, रात जाती दिन आता।
नहीं कभी पर चित्त, चैन चिन्ता से पाता॥
बिन दावा के हो गया, चित्त दाह इस देह का।
हमको बस यह फल मिला, चिन्ता के स्नेह का॥ —विम्ब

डॉ. श्री नरेन्द्रकुमार जी शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी.

—: सेवा-धर्म :—

'सेवा' यह शब्द कहने में बहुत सरल तथा प्रिय प्रतीत होता है, परन्तु आचरण में सेवा-कार्य तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। महाराज भर्तृहरि ने कहा है—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' (नीति. 58) अर्थात् सेवा-धर्म परम गहन है, कष्ट-साध्य है, योगी भी सेवा-धर्म का पालन बड़ी कठिनता से ही कर पाते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि सेवा-धर्म का पालन किया ही नहीं जा सकता, अवश्य किया जा सकता है, केवल थोड़े से प्रयास और अभ्यास की आवश्यकता है।

'सेवा' शब्द के परिचर्या, उपासना, भक्ति पूजा, आराधना आदि अनेक पर्याय हैं। वैष्णवों के वैरागी सम्प्रदाय में भगवान् के नामों के पीछे 'दास' लगाकर सीतारामदास, रघुवीरदास, राघवदास, भरतदास, तुलसीदास तथा सूरदास आदि कहने की जो परम्परा चली आयी है, वह इस दास, भक्ति या सेवावृत्ति से ही सम्बन्धित है। आजकल 'सेवावृत्ति' शब्द नौकरी-व्यवसाय के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है। पर 'सेवा' का एक अन्य अर्थ भी है, निःस्वार्थ भाव से किसी असहाय की तन-मन-धन से—मनसा-वाचा-कर्मणा' सहायता करना। यहां हमारे विचार का सम्बन्ध इसी अर्थ वाले 'सेवा' शब्द से है, जिसे लोक में 'परोपकार' भी कहा जाता है। इसे ही भगवान् कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म कहा है, जिस सेवा-धर्म का पालन करते हुए मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं बँधता—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः' (गीता 4/20)। त्यागभाव अथवा निष्काम कर्म की प्रवृत्ति के बिना कभी भी मनुष्य में सच्ची सेवा की भावना नहीं आ सकती। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके पहले दो मन्त्रों में भगवान् स्वयं स्पष्ट रूप से कहते हैं—'...त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' अर्थात् संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक भोग करते हुए मनुष्य जो भी कर्म करता है, वे कर्म सेवा भाव से त्यागभाव से, परोपकार की भावना से तथा यज्ञ की भावना से प्रेरित होने के कारण उस मनुष्य में लिप्त नहीं होते। उसके वे कर्म शरीर की स्वाभाविक चेष्टा मात्र बनकर रह जाते हैं, उन कर्मों से मनुष्य के मन में कर्म की वासना उत्पन्न नहीं होती और यह वासना ही जन्म-मरण के चक्र में मनुष्य को डालती है, अतः इस प्रकार सेवाभाव से किये गये ये निष्काम कर्म अन्ततः मनुष्य को संसार सागर से पार उतारने वाले बन जाते हैं और उसे मुक्ति के द्वार तक पहुँचा देते हैं।

आश्चर्य है कि जिन सेवा कार्यों को करते

हुए हम अपने लिये कुछ नहीं चाहते, पुनरपि हमें वह सब कुछ अपने-आप मिल जाता है, जिसके लिये योगी लोग अपना सर्वस्व योग-साधना में समर्पित करते हैं। हम कुछ नहीं माँगते, परन्तु प्रभु सब कुछ दे देते हैं, जहाँ बिना माँगे मोती मिले फिर ऐसे सेवा कार्यों से क्यों विमुख रहा जाय, उन्हें तो और भी उत्साह से तथा प्रयत्न से करना चाहिये।

सेवाभावी मनुष्य निःसंदेह सम्पूर्ण समाज का हितैषी तथा आदर्श होता है। उसका जीवन अपने अथवा अपने परिवार तक सीमित नहीं होता, उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही उसका परिवार होती है—'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'—'उदारचित्त मनुष्यों के लिये तो सारी पृथ्वी ही उसका कुटुम्ब है।' सारा संसार ही उसका मित्र है, उसके लिये कौन अपना और पराया ? सब उसके हैं और वह सबका है। 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' तात्पर्य यह कि सभी दिशाओं में उसके मित्र-ही-मित्र होते हैं, शत्रु कोई नहीं होता। वह तो सदा सब प्रकार से सबका हित ही चाहता है और केवल चाहता ही नहीं, अपितु अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उनका हित-सम्पादन भी करता है।

मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। उसकी श्रेष्ठता केवल तर्क-वितर्क की क्षमता पर ही निर्भर नहीं करती, अपितु इसी बात पर निर्भर रहती है कि वह संसार के अन्यान्य प्राणियों के—इतर मनुष्यों, पशु और पक्षियों के कितने काम आ सकता है, उनकी कितनी सेवा कर सकता है।

तनिक प्रभु की सृष्टि की ओर निहारिये, सर्वत्र सेवा-ही-सेवा दिखायी पड़ेगी, सूर्य अपनी किरणों को फैलाकर अन्धकार को ही दूर नहीं करता, अपितु अनेक विध अन्नों और वनस्पतियों के उपजाने में सहायक होता है। इसी से सभी का जीवन जीवन होता है। क्या नदी, वृक्ष, लता, पर्वत—सभी परहित में नहीं लगे हुए हैं ? यही तो प्रभु का यज्ञ है। आइये, आप भी इसमें सम्मिलित हो जायँ, अपनी आहुति भी इसमें डाल दें। निःसंदेह आपकी आहुति विफल नहीं जायगी। दीन-दुखियों के अङ्ग बनने में आपका दिया गया एक-एक क्षण आपको संतोष देगा। दीन-दुखियों और असहायों की सेवा से आपको वह परम आनन्द मिलेगा, जिसके लिये योगियों को भी कठोर तप करने पड़ते हैं। दीन-दुखियों में हीनता की भावना न होकर सच्ची श्रद्धापूर्वक भगवद्भावना रखने से ही वह सेवा याज्ञिक क्रिया बन सकती है और तब वह ब्रह्मार्पण की दृष्टि से ब्रह्माग्नि में दी गयी आहुति के समान फलदायक होकर सीधे ब्रह्म तक पहुँचा सकती है। गौ, विद्वान्, ब्राह्मण, संत, महात्मा, माता-पिता, अतिथि और गुरु आदि की सेवा तो सर्वथा भगवद्भाव से की जानी चाहिये। एक क्षण भी उनमें भगवान् से भिन्न दृष्टि नहीं रखनी चाहिये और सत्य भी यही है कि भगवान् ही कृपा करके गौ, ब्राह्मण, संत आदि के रूप में सेवा का सौभाग्य प्राप्त करते हैं, इसी से मानस में—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
(2/35/3)

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी।
सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥
(2/128/8)

—ऐसे कथनों की बार-बार आवृत्ति होती आयी है।

सेवा भाव से समर्पित जीवन के द्वारा आपका हृदय इतना निर्वैर, पवित्र, विशाल और उदार होगा कि उसमें आप समस्त, संसार के दुःखों को समेट कर उनकी झोली सुखों से परिपूर्ण कर देना चाहेंगे। आपका व्यक्तित्व संकुचित सीमाओं को पार करके असीम और महान् बन जायगा। फिर आप अनुभव करेंगे—

अयुतोऽहमयुतो मे आत्मायुतं मे,
चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतम्।
मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो,
मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥
अथर्व- 19/51/1)

'मैं अब असीम बन गया हूँ, मेरा आत्मा असीम हो गया है। मेरे नेत्र, मेरे कान, मेरे प्राण मेरा अपान, मेरा व्यान सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग संकुचित परिधि से निकलकर असीम, विशाल, अपार और उदार हो गये हैं। मेरा रोम-रोम अब विश्व कल्याण और परहित में सार्थक हो रहा है। मैं अब केवल स्वयं तक सीमित नहीं हूँ अपितु विश्वरूप हो गया हूँ।

निःस्वार्थ सेवा में कितना आनन्द है, कितना सुख है और कितना संतोष है? यह शब्दों में वर्णन करने योग्य नहीं है। उसकी अनुभूति तो सेवा-फल को चखने पर ही होगी। भले काम में देरी कैसी? आइये, और निराश्रयों के आश्रय बनकर निःस्वार्थ-भाव से अपने तन-मन-धन को असहायों की सहायता में लगा दीजिये। सेव्य-सेवक भाव से, दास्य-दासभाव से, पूज्य-पूजक भाव से प्रभु के प्रभुमय सेवा-धर्म में सम्मिलित हो जाइये।

मिट्टी का उपयोग :-

आंत के रोगों की चिकित्सा

सारे रोगों की जड़ कब्ज होता है। इसकी व्याख्या कब्ज गैस पुस्तकों में की गई है। इसके मुख्य लक्षण हैं शौच साफ न होना, कई दिनों में होना, कड़ा या काफी पतला होना पेट भारी रहना, भूख न लगना, सुस्ती बनी रहना, किसी काम में मन न लगना, सिर में दर्द रहना आदि।

उपचार—कब्ज को दूर करने के लिए पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी गरम ठण्डी सेंक देकर चढ़ानी चाहिये। पट्टी प्रातःकाल और रात्रि को सोते समय चढ़ाइये एक बार में दो तीन पट्टी भी ली जा सकती हैं।

ठण्डे पानी को पेड़ू की लपेट 1 घण्टे तक दिन में दो तीन बार ली जाय। पहले पेड़ू को सेंक देकर पट्टी बाँधिये।

कटि स्नान 10 मिनट से शुरू करके 30 या 45 मिनट तक का लीजिये। कटि स्नान के बाद तुरन्त टहलने चले जाइये खुली जगह में 3 मील साफ हवा में टहलिए। टहलते समय गहरी श्वास लेते रहें। ऐसा करने से दो तीन माह पुराना कब्ज ठीक होता है।

योगासन, प्राणायाम इसमें विशेष सहायक रहते हैं, आध घण्टे पद्मासन से बैठने का नियम बना लेना चाहिए।

★

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. SEPTEMBER, 1993

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री

दीर्घजीवन का एक उपाय

मनुस्मृति में आया है : 'सुबह-शाम संध्या करनी चाहिए ।' उसकी फलश्रुति बतायी गयी—'दीर्घायु' । यह फलश्रुति मिथ्या नहीं । दीर्घजीवी होंगे, यह बात सही है । सन्ध्या करने के लिए प्रातः-काल में जल्दी उठना होगा और इसलिए जल्दी सोना पड़ेगा । सन्ध्या के समय चित्त एकाग्र करना होगा, विकारों को हटाना होगा । यह सारा करेंगे, तो निःसन्देह आरोग्य बढ़ेगा । इसलिए यह वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता, वह सही है । दीर्घजीवी होने के दूसरे भी अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन यह भी एक कारण है । इसका उद्देश्य यह है कि भगवान् की धारणा की जाय । सूर्यनारायण भगवान् का प्रतीक है : सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

—श्रुतिसार

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, शाहगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित । फोन : 360426